श्री अभय जैन ग्रंथमाला पुष्प १३

जैन दार्शनिक संस्कृति
पर
एक विहंगम दृष्टि

लेखक

श्री शुभकरणसिंह बोथरा, बी०ए०

प्रकाशक–

नाहटा ब्रदर्स

४ जगमोहन मलिक लेन

कलकत्ता ७

प्रथमावृत्ति १०००

दीपावली वीराब्द २४८०

मूल्य ||

यह पुस्तक निम्न पते पर भी प्राप्य है—

नाहटा भैंरूदान हरखचन्द

बैनीगंज पोस्ट हाथरस (यू० पी०)

मुद्रक—

माथूराम गुप्ता, गोकुल प्रिंटिंग प्रेस

हाथरस।

प्रकाशकीय निवेदन

पूर्ण पुरुष वीतराग भगवान् की वाणी त्रिकाल अबाधित और सर्वथा सत्य है। अनन्त भाव और दृष्टियों से परिपूर्ण विश्व का स्वरूप — जड़ चेतन का स्वरूप जो जैनागमों में है, अकाट्य और विचारकों द्वारा शास्वत समर्थित है और रहेगा। इतना सब होने पर भी हम लोग उसे संसार के समक्ष उपस्थित न कर मुमुक्षुओं एवं विचारकों के प्रति घोर अपराध कर रहे हैं। जैन धर्म किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं पर विश्वधर्म-आत्म धर्म है। इसमें आत्मोत्थान की पराकाष्टा निर्वाण प्राप्ति का सहज और सुगम मार्ग निहित है। इसका प्रचार आज के युग में बड़ा ही आवश्यक और कल्याण कारी है। अधिकारी विद्वानों द्वारा यह भगीरथ प्रयत्न सर्वथा वाञ्छनीय है। हमने इस विषय के अपने विचार लिपिबद्ध करने के लिये अपने श्रद्धेय मित्र श्री शुभकरणसिंह जी बोथरा को कई बार प्रेरित किया और उन्होंने हमारे अनुरोध से यह निबन्ध लिख कर चार वर्ष पूर्व हमें भेज देने की कृपा की, जिसे आज विद्वानों के कर कमलों में रखते हमें परम हर्ष हो रहा है।

इस निबन्ध के लेखक श्री शुभकरणसिंह जी एक प्रतिभा सम्पन्न उच्च शिक्षा प्राप्त और योगनिष्ट विचारक हैं। उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग तत्वचिन्तन में व्यतीत किया है। ऐसे प्रभाव शाली व्यक्तित्व वाले विद्वान के विचारों से आशा है पाठक गण अवश्य प्रभावित होंगे। इसका प्राक्कथन श्री कैलाशचन्द्र जी जैन ने लिख भेजने की कृपा की है अतः हम दोनों विद्वानों के प्रति आत्मीयता व्यक्त करते हैं। उपाध्याय जी श्री सुखसागर जी महाराज के कलकत्ता पधारने पर ज्ञान खाते में एकत्र द्रव्य का सद्व्यय इस ग्रन्थ के प्रकाशन में किया जा रहा है इसकी आमदानी से भविष्य में जिनवाणी प्रचार में सहायक होगी। आशा है हमारे बन्धु सत्साहित्य के प्रचार और पठन पाठनादि में अब पश्चात्पाद नहीं रहेंगे।

अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा

श्री अभय जैन ग्रन्थमाला के उपयोगी
प्रकाशन

१ अभयरत्नसार	अलभ्य
२ पूजा संग्रह	अलभ्य
३ सती मृगावती	,,
४ विधवा कर्त्तव्य	,,
५ स्नात्र पूजादि संग्रह	,,
६ जिनराज भक्ति आदर्श	,,
७ युग प्रधान श्रीजिनचंद्र सूरि	,,
८ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह	२॥)
६ दादाजिन कुशलसूरि	अलभ्य
१० मणिधारी श्री जिन चन्द्रसूरि	,,
११ युगप्रधान श्री जिन दत्तसूरि	१)
१२ संघपति सोमजी शाह	,,
१३ जैन दार्शनिक संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि	।।।)
१४ ज्ञानसार ग्रन्थावली	प्रेस में
१५ बीकानेर जैन लेख संग्रह	,,
१६ समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि	,,

प्राप्ति स्थान

नाहटा ब्रदर्स

४ जगमोहन मल्लिक लेन कलकत्ता ७

प्राक्कथन

"जैन दार्शनिक संस्कृति पर एक विहङ्गम दृष्टि" पुस्तिका को पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। इसके लेखक श्री शुभकरणसिंह बी० ए० से मेरा प्रथम परिचय उनकी इस पुस्तिका के द्वारा ही हुआ है। किन्तु साक्षात् परिचय से यह परोक्ष परिचय कम प्रभावक तो नहीं ही कहा जा सकता।

पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि लेखक दर्शन शास्त्र के साथ ही साथ विज्ञान् के भी अभ्यासी हैं और जैन दर्शन को उन्होंने एक विचारक और सत्य शोधक की तुलनात्मक दृष्टि से देखा है। ऐसा हुये बिना कोई जैन दर्शन की गम्भीर विचार धारा से इतना प्रभावित नहीं हो सकता।

प्रस्तुत पुस्तिका में जैन दर्शन की तत्त्व व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए छै द्रव्यों का तुलानात्मक परिचय कराया गया है यद्यपि भगवान महावीर के पहले से ही जैन धर्म प्रचलित था इसके अकाट्य प्रमाण मिल चुके हैं। किंतु वर्तमान में प्रचलित जैन धर्म के उपदेष्टा भगवान महावीर ही थे; क्योंकि वे जैन धर्म के चौवीस तीर्थङ्करों में से अंतिम तीर्थङ्कर थे। इससे लेखक ने भी उन्हीं को आधार मानकर जैन दर्शन की संस्कृति पर प्रकाश डालाहै

प्रारम्भ में लेखक ने हिंदु संस्कृति की चर्चा करते हुये लिखा है "यह प्रश्न आज विचारणीय है कि जैन अपने आपको हिंदू संस्कृति से प्रथक् मानें या सम्मिलित ? हिंदू शब्द भारतीय संस्कृति को स्वीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का उद्बोधन करने में समर्थ है। हां, जहां धर्म या व्यवहार का प्रश्न आता है वहां जैन व शैव, वैष्णव आदि का पृथक २ जिक्र किया जा सकता है।"

लेखक के इन विचारों से कोई जैन असहमत नहीं हो सकता यदि हिन्दु शब्द धर्म का विशेषण न होकर राजनैतिक व भौगोलिक बिशेषता का द्योतक है, जैसा कि लेखक ने लिखा है तो प्रत्येक जैन अपने को हिन्दू कहते हुये नहीं सकुचायेगा किन्तु आज तो हमारे कोई कोई नेता भी वेद और ईश्वर को मानने वाले को ही हिन्दू कहते हैं। इसी लिये जैन अपने को हिन्दु कहते हुए सकुचाते हैं। विभिन्न विचार धाराओं के समन्वय की दृष्टि से वेद प्रतिपादित

विचार धारा भी ठीक हो सकती है किन्तु जैन आगमों ने वेदों को प्रमाण तो नहीं माना।

ईश्वर की मान्यता के सम्बन्ध में तो लेखक ने स्वयं ही बड़ा सुन्दर और विचार पूर्ण प्रकाश डाला है। तथा एकात्मवाद का भी निराकरण ऐसे ढंग से किया है जो बुद्धिसङ्गत है। अतः यदि वेद और ईश्वर को न मानने वाले भी विशुद्ध हिन्दू हो सकते हैं। तो जैनों को विशुद्ध भारतीय होने के नाते हिन्दू कहलाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

जैन दर्शन में तत्त्व को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है। उसका स्पष्टी करण करते हुए लेखक ने ठीक ही लिखा है—वैदिक धर्मों ने साकार रूप से इन तीन सत्यों को (स्थूल रूप से) स्वीकार करही लिया और बाद में ब्रह्मा, विष्णु व महेशाकार में इन परम सत्यों को तत्त्व का सर्वोपरि माना।' यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि वैदिक धर्म ब्रह्मा को सृष्टि का उत्पादक विष्णु को संरक्षक और महेश को संहारक मानते हैं।

जैन धर्म सृष्टि का कर्ता हर्ता तथा स्वयं सिद्ध किसी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता। इसी लिये वह निरीश्वर वादी है, किन्तु वह प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति मानता है और जो आत्मा परमात्मा बनकर मुक्त हो जाते है उन्हें ही वह परमात्मा अथवा ईश्वर मानता है। अतः यथार्थ में वह निरीश्वर वादी नहीं

है। सचमुच में एक ईश्वर के भरोसे ही सब कुछ छोड़ बैठने से हमारे देश में अकर्मण्यता बढ़ी है। लेखक ने इस पर अच्छा प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"एक ईश्वर के भरोसे सब कुछ छोड़ने से अकर्मण्यता ही बढ़ी इस देश में। जहाँ महावीर ने यही कहा कि पुरुषार्थ की परम आवश्यकता है, किसी के भरोसे छोड़ने से कुछ नहीं होता। अपने आप प्रयत्न करने से आलोक की प्राप्ति सार्थक हो सकती है, अन्यथा नहीं। प्रयत्न करने से पूर्वकृत भावों व कार्यों के परिणामों का उच्छेद किया जा सकता है एवं रुचिकर परिस्थितियों व अन्धकार अज्ञानता से त्राण पाया जा सकता है। किसी अन्य ईश्वर की कोई शक्ति नहीं कि किसी को बुरे या भले से बचाले। यदि ईश्वर व्यक्ति के हाथ में बुरे या भले परिणामों को बदल सकने की सत्ता दे दी जाये तो उचित अनुचित के नियम का भंग होता है-यह जवाब था महावीर का अकर्मण्य बनाने वाले साकार ईश्वरवादी सिद्धान्त के सामने। जब कार्यों का परिणाम अन्य व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर हो तो सामान्य चेतन व्यर्थ को कष्टकारी सुपथ पर क्यों चले आमोद प्रमोद के सुगम मार्ग को परित्याग करने की प्रेरणा पराश्रयी होने से कभी नहीं मिल सकती।

"जैन धर्म में मूल तत्त्व एक है द्रव्य। उसके छै भेद हैं- जीव पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

लेखक ने प्रत्येक द्रव्य का वर्णन और उसकी आवश्यकता बहुत ही सुन्दर ढंग से बतलाई है।

जीव द्रव्य का वर्णन करते हुए लिखा है— "एक एक चेतन को महावीर ने प्रथक २ सत्ता दी। अर्थात् चेतन जड़ के सूक्ष्मतम अणु की तरह एक २ प्रथक द्रव्य है। किंतु जड़ जिस तरह दूसरे जड़ों के साथ घुल मिलकर कार्य करता है उस तरह चेतन अन्य चेतनों के साथ सर्वथा मिल नहीं जाता। एक शरीर धारण कर लेने पर भी चेतन दूसरे के साथ मिलता नहीं और न अपने व्यक्तित्व को खोता है।"

इसी तरह पुद्गल आदि अचेतन द्रव्यों पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने आधुनिक विज्ञान के मन्तव्यों के साथ उनकी तुलना की है। जैन धर्म में पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप रस गंध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। उसके दो भेद हैं स्कंध और परमाणु। सबसे छोटे अविभागी पुद्गल उसको परमाणु कहते हैं और परमाणु के मेल से जो तैयार होते हैं वे स्कन्ध कहे जाते हैं। मिलने वाले दो परमाणुओं में रहने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुण ही बन्ध के काम होते है। किन्तु उन गुणों का अनुपात कितना होने से ही दो परमाणुओं में बन्ध हो सकता है इसका विवेचन भी जैन सिद्धान्त में है।

इसी तरह गति और स्थिति के नियामक दो द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी जैन सिद्धांत में माने गये हैं। अन्य किसी भी दर्शन का ध्यान इस ओर नहीं गया। इन सभी विशेषताओं की ओर लेखक ने ध्यान दिलाते हुए ठीक लिखा है कि 'वैज्ञानिक परिभाषाओं से इस विवरण की युक्तपूर्ण धारा बहुत मिलती है और आश्चर्य होता है हमें यह देखकर कि यंत्र सुलभ सुविधाओं के अभाव में कैसे वे मनीषी इस विषय के सत्य के इतने निकट पहुचे।'

जैन धर्म के गंभीर सिद्धांतों की ओर जो विश्व के वैज्ञानिक की दृष्टि अभी तक नहीं गई है उसका कारण उसके अनुयायी भी हैं। वे अपने धर्म के सिद्धांतों की प्रशंसा सुनना तो पसन्द करते हैं किंतु न तो उन्हें स्वय जानने की चेष्टा करते हैं और न दूसरों के सामने ही रख सकते हैं। लेखक के ही शब्दों में उन्हें तो सामान्य श्रेणी के मुग्ध सुलभ उपाख्यानों से ही अवकाश नहीं, वे कहां से सत्य व तत्त्व के अन्वेषण की ओर दृष्टि पात करें।' अतः लेखक ने जैनेतर मनीषियों से प्रार्थना है कि वे इस ज्ञानकुञ्ज की सौरभ से लाभ उठावें। हमें आशा है कि प्रस्तुत पुस्तिका इस कार्य में सहायक होगी।

लेखक को ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखनेकेलिये हम बधाईदेतेहैं और अन्त में पुस्तक की कुछ कमियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करातेहैं–प्रथम तो पुस्तक की भाषामें थोड़ा परिवर्तन आवश्यक है। दर्शन शास्त्र स्वयं ही एक गहन विषय है यदि भाषा भी गहन साहित्यिक हो तो विषय और दुरूह बन जाता है अतः भाषा को परिष्कृत करने की आवश्यकता है। दूसरी और बड़ी कमी यह है कि समस्त पुस्तक में कहीं भी कोई विभाग या शीर्षक वगैरह नहीं है प्रारम्भ से आखिर तक एक ही प्रवाह बहता गया है। अतः पाठक इसे देखते ही ऊब उठेगा और पूरी पुस्तक देखे बिना उसका काम नहीं चल सकेगा। यदि विषय वार विभाग करके बीच २ में छोटे २ शीर्षक भी दिये होते तो पुस्तक अधिक उपयोगी और आकर्षक होती।

तीसरी कमी यह है कि प्रत्येक द्रव्य का वर्णन करते हुए सबसे प्रथम उसका स्वरूप स्पष्ट कर देना चाहिये उसके बाद उसकी समीक्षा तुलना वगैरह की जानी चाहिये।

आशा है कि दूसरे संस्करण में ये कमियां दूर करदी जायेंगी तो पुस्तक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। अन्त में हम लेखक के सुन्दर प्रयत्न की सराहना करते हुए यह आशा

रखते हैं कि वे अपनी लेखनी से और भी सुन्दर साहित्य का सर्जन करके जनता का उपकार करते रहेंगे।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
काशी

कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन दार्शनिक संस्कृति
पर
एक विहंगम दृष्टि

भारतीय संस्कृति के इस विशिष्ट अङ्ग का महत्त्व कितना है और इसकी वाटिका में प्रफुल्लित पुष्पों द्वारा मानव जाति का वायु-मण्डल कितना सुरभित हुआ है, इसे इनेगिने व्यक्ति ही आज जानते हैं। तत्त्वज्ञान की गहराई में गोता लगाकर व्यवहारिक व नैसर्गिक सूक्ष्म विचार-रत्नों को व्यक्त करने का श्रेय जितना इस अङ्ग (इसके आज के स्वल्पोपलब्ध साहित्य को देखने से विदित होता है) को है, अन्य किसी भी अङ्ग को नहीं दिया जा सकता।

वर्तमान अनुश्रुति के आधार पर भारतीय संस्कृति के उत्थान काल में जैनधारा का या अन्य दार्शनिक धाराओं का पारस्परिक पृथकत्व इतना वीभत्स रूप से व्यवहार में नहीं उतरा था कि आज की तरह एक दूसरे को लोग घृणा की दृष्टि

से देखने लगे हों। किंतु जब चढ़ाव के बाद उतार की बारी आई ईर्षा एवं कलह ने प्रेम सहयोग के निर्मल वातावरण को आँच्छादित कर दिया और संकुचित वृत्तियों के पोषक लोग समाज के कर्णधार बन गये। परिणाम स्वरूप भिन्न २ विचार पद्धतियों का अनुसरण कर तत्त्व-पथ पर अग्रसर होने वाले मेधावियों को संकीर्णता की परिधि में अपनी विचार शोध को बद्ध करना पड़ा। हो सकता है उस समय उनका उद्देश्य यह रहा हो कि ऐसा करने से विशेष कोटि की तत्व-शोध-प्रणालियों की रक्षा हो जायगी एवं अच्छा समय आने परबिखरे हुवे सारे फूल फिर एक सूत में गूंथ दिये जांयगे। किंतु एक बार ढलाव की ओर लुढ़क पड़ने पर किसी भारी वस्तु को रोकना जिस प्रकार संभव नहीं होता उसी तरह संकीर्णता के पथ पर भारतीय समूह जब सम्प्रदायों में बँटने लगे तो कोई महानुभाव रोकने में समर्थ न हो सका। किसी ने कोई विशिष्ट प्रयत्न एकता के लिये नहीं किया। एक दूसरे के गुणों को देख अपने दोषों को निकालने के क्रम के स्थान पर आया एक दूसरे के दोषों का प्रचार एवं गुणों का तिरोभाव। राजनीति भी लड़खड़ाई, समाज शृङ्खला टूटी, विकास रुका एवं परिणाम जो हुआ वह आज सहस्र वर्षों के हमारे पतन काल के इतिवृत्त में कलङ्क की गाथा के परू में आलेखित है।

जाति भेद की जंजीरों में जकड़ी हुई भारतीय संस्कृति उच्छृङ्खलता, मादकता, निर्दयता व अनैतिकता का प्रचार, कतिपय

व्यक्तियों का समस्त समुदाय के व्यवहार व विचार पर एक छत्र आधिपत्य, स्वार्थियों के हाथों इस सत्ता का दुरुपयोग, सामान्य सी बातों पर भीषण युद्धों का तांडव, तत्व ज्ञान का विलोप, यह थी आज से १५०० से ३००० वर्ष पूर्व की गाथा। यद्यपि ३००० वर्ष पूर्व व्यवहार में सौष्ठत्व विदाई नहीं पा चुका था एवं उस समय भी समृद्धि तथा सुख की शोभा में निखरे हुये भारतीय व्योम के बादल यदाकदा अन्य मानव समूहों पर अपना शांति पीयूष छिटका दिया करते थे किन्तु ज्ञान की गति के रुख को बदलता हुआ देख दूरदर्शी समझ गये थे कि अब समय का प्रवाह कठिन दुरूह घाटियों के बीच से बहेगा एवं आश्चर्य नहीं, सभ्यता शिलाखंडों से टकरा कर विध्वंश हो जाय। अतः अपनी अपनी सूझ के अनुसार सभी ने भारतीय सभ्यता को कठोर बनाने का प्रयत्न किया, किंतु प्रबाह के वेग के अनुरूप शक्ति संचय न हो सका एवं बिखर गयी हमारी सारी पूँजी, हम मार्गभ्रष्ट हुए अंत में पददलित भी। प्राकृतन काल के उन दूरदर्शियों में महावीर का नाम अग्रगण्यों की गणना में आ चुका है।

समाज के लिये नया विधान दिया महावीर ने, तत्वचिंता के क्रम को स्थिर किया एवं सत्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त की, तुलना व युक्ति की सार्वभौमिक महानता का दिग्दर्शन कराया तथा व्यवहार व निश्चय (स्वभाव) के पारस्परिक संबंध का ध्यान रखते हुये उनको यथा व योग्यता

व आवश्यकतानुसार स्वीकार करने की पद्धति बतायी। आधुनिक विज्ञान की अद्भुत सफलताएं जहां हमें आज आश्चर्याभिभूत करती हैं वहां भारतीय ज्ञानकोष के जानकार को और विशेषकर जैन तत्व विचार-पद्धति से परिचित व्यक्ति को लगता है कि अनेक विषयों में भारतीय ऋषियों द्वारा जाने गये तत्वों का भौतिक संस्करण मात्र है यह आजका पाश्चात्यों का प्रयास। ऐसा कहकर पाश्चात्य उपलब्धियों का परिहास नहीं कर रहा हूँ बल्कि भारतीय तत्वचितकों की अगाध शक्ति का यथास्थान उल्लेख मात्र किया है मैने। जहां यंत्रसंभव प्रयोगों का आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्यों को है वहां तत्व के यथार्थ स्वरूप का सूक्ष्मानुसंधान करने का महत्व भारतीयों को है इसे छिपाया नही जा सकता। आज जितने भी तात्विक वैज्ञानिक सत्यों का आविष्कार संभव हुआ है उन सब के बीज मंत्र भारतीय ज्ञान कोष मे यथास्थान उल्लिखित हैं-यह मुक्त कंठ से सब पाश्चात्यवासी न स्वीकार करेंतो क्या ? कुछ कृतज्ञ वैज्ञानिक यह कहते हुए नहीं लजाते कि अधिकांश पाश्चात्य विज्ञान की प्ररणाएं, संकेत व मंत्र भारतीयों की देन है।

हम लोग हमारे ज्ञान को पहुंच को आज समझते नहीं इसीलिये सब कुछ वहां से बह कर आता हुआ दिखाई देता है, किंतु तनिक ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रमाणित हो सकता हैं कि बहुत कुछ यहाँ से वहाँ बह-कर गया है। उन्होंने ज्ञान की कदर की, उसे अपनाया, प्रयोग किया एवं अब उसको उपयोग के लिये चारों ओर बहा रहे हैं।

तत्व चिंता का प्रयोग क्रिया से कम महत्व नहीं रखता बल्कि अनंत गुणा वैशिष्ट्य होताहै इसमें। तत्वचिंता प्राण है ज्ञान का, तो उपयोग काया है उसकी—कलेवर (काया) की तुलना में चेतन (प्राण) का क्या महत्व है यह सामान्य बुद्धि वाला भी समझ सकताहै। विचारक वैज्ञानिक आइन्स्टाइन तत्वचिंतक है। प्रयोग क्षेत्र में उनकी पहुँच व रुचि विशेष नहीं।।किंतु तत्व की शोध का श्रेय जितना उनको है उतना क्या और किसी प्रयोग—कुशल को दिया जा सकता है? शून्य में से सत्य को खोज निकालना कितने लोग कर पाते हैं? समस्त मानव जाति के इतिवृत्त में इनेगिने महानुभाव ही तो ऐसा कर पाये हैं। हाँ, इतना हम मानते हैं कि प्रयोग न किये जाने पर ज्ञान की शोध समाज की उन्नति के काम नहीं आती और यों ही व्यर्थ जाता है यह प्रयास संस्कृति व विकास की दृष्टि से अप्रयुक्त तत्व-ज्ञान व्यक्ति तकही सीमित रह जाता है और उसके प्रसार का प्रसंग नहीं आता, न मानवता आगे बढ़ती है। इसलिये जिन महानुभावों ने तत्वके स्वरूप को समझ कर समझाया, उनको हम अपने व्यवहार के लिये अधिक महत्व देते हैं। सत्य को अपने तक ही सीमित रखने वालों की अपेक्षा प्रचारक विज्ञ मानवता के बड़े उपकारक होते हैं। स्व के लिये तो तत्व बोध का महत्व उतना ही रहता है पर अप्रचारित तत्वज्ञान से उपकार नहीं होता और उपकार का मूल्य बहुत बड़ा है।

महावीर प्रचारक कोटि के तत्वचिंतक थे एवं उनके प्रचार के फल स्वरूप तत्वचिंता की जो धारा बह निकली उसी का

परिणाम हुआ भारतीय संस्कृति के जैन रूपमें, जिसका जिक्र हम आज कर रहेहैं। जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विदेशी इस्लाम व ईसाई धर्मों के आगमन के कारण कुछ लोग अपनी सकीर्णवृत्ति का परिचय दे इस एकत्व को भूल बैठते हैं। हिन्दू शब्द धर्म का विशेषण न होकर राजनैतिक व भौगोलिक विशेषता का द्योतक है। उसे धर्म के दायरे में घसीटने का प्रयत्न करने वाले ईसाई, जिनकी नीति ही सदा से रही कि भारतीय संस्कृति के टुकड़े कर उसमें आपसी कलह के बीज बोये जांय। और आज इसी का परिणाम है कि इस देश की संस्कृति में आपस का पार्थक्य बहुत बढ़ गया है। दार्शनिक क्षेत्र में विदेशियों के आगमन के पूर्व वाद विवाद द्वारा सिद्धान्त निर्णय के बड़े २ प्रसङ्ग आते थे किन्तु समाज के जीवन में आज का सा कालुष्य व कलह न था। इने गिने मूर्खों द्वारा रचित दो चार द्वेष भरे श्लोकों अथवा ग्रन्थों के उल्लेख मात्र से मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि समाज के दैनिक जीवनमें बड़ा भारी पार्थक्य रहा होगा। यहप्रश्न आज विचारणीय है कि जैन अपने आपको हिंदू सस्कृति से पृथक मानें या सम्मिलित ? हिंदू शब्द भारतीय संस्कृति को स्वीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का उद्बोधन करानें में समर्थ है। हां, जहां, धर्म या व्यवहार का प्रश्न आता हो वहां जैन व शैव व वैष्णव आदि का पृथक २ जिक्र किया जा सकता है (वह भी इस अनैक्यता से भरे हुए वातावरण के परिस्कृत न हो जाने तक ही)।

वेद, जैन संस्कृति को अभीष्ट हैं एवं जैन इस काल-युग के अपने आदि बुद्ध के नाम के साथ वेदों के निर्माण की कथा को सम्मिलित करते हैं। जैन आगमों ने वेदों को प्रमाण माना है और फिर जैन तो संसार का सर्व श्रेष्ठ समन्वयकारी दार्शनिक सिद्धांत प्रस्तुत करने वालों में सर्व प्रथम थे, तब कैसे कहा या माना जा सकता है कि वे अपने आपको हिंदू सस्कृति से पृथक मानेंगे। तीन सहस्र वर्ष पूर्व, संकीर्णता को देख, समाज विधान को सुधारने का प्रयास करने के कारण जैन पृथक मान लिये जांय यह क्योंकर सम्भव है? राजनीति व देश के नागरिक के नाते सब भारतीय हैं। दार्शनिक विकाश सिद्धान्त के नाते कोई शैव है, कोई बौद्ध तो कोई जैन।

इस पृथकत्व का भी जो कारण है वह महावीर के उपदेशों से स्पष्ट है। जाति भेद के कारण भारतीय शुभ्र गगन में कालिमा व कलङ्क के जो बादल उमड़ने लगे थे उन्हें देख कर सर्व प्रथम उनका हृदय विरक्त हुआ एवं उन्होंने यह उद्घोषणा की कि प्रत्येक मनुष्य समान है। जाति भेद से कोई मानव अमानव नहीं हो जाता और न ऊँच नीच होता है। उन्होंने ही जाति भेद के महाकाल को नष्ट करने के लिये ये अभ्रभेदी वाक्य कहे थे कि "कर्म से ब्राह्मण या क्षत्रिय या शूद्र होता है, जन्म से नहीं" अर्थात् जिसके जीवन की धारा जिस श्रेणी की भावनाओं या व्यवहार की ओर से बहती हो वह उस कर्म व उस भाव के कारण तद् जाति का कहा जा सकता है और वैसा कर्म या भाव परिवर्तन करते ही जाति का बदल जाना अनिवार्य है।

सचमुच जाति भेद को अस्वीकार करने का सबसे ठोस प्रयास था यह। तत्कालीन क्रिया कांड प्रधान धर्मों के प्रचारकों ने जाति के इस पूर्वमान्य परिवर्तन को अत्यन्त दुरलंघनीय बना दिया था एवं समाज में क्रमशः एक दूसरे का शोषण करने की वृत्ति बढ़ चली थी महावीर आये इसको नष्ट करने। जैन अनु-श्रुति के अनुसार जैनों ने किसी निकट के प्राग्ऐतिहासिक युग में वेदों के अर्थ विद्रूपीकरण के कारण व्यवहारिक जीवन में आयी हुई अहिंसात्मक-वृत्तियों से संबंध विच्छेद कर लिया था किंतु वेदों को कभी सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया।

भारतीय संस्कृति के अन्य अंगों के साथ जैन अंग के पार-स्परिक संबंध के विषय में इतना कुछ कहने का प्रसङ्ग इसीलिये आयाहै कि इस ओर की भूल भरी धारणाओं के कारण आपसी मतभेद अत्यन्त कठोर हो गया है एवं जिसका दूरीकरण आज अत्यन्त अपेक्षित है। जैनों में जातिगत संकीर्णता आने का कारण है उन में निजी जाति भावना के विष का प्रचार-आज के जैन स्वयं अपने आपको एक पृथक जाति मानने लग गये हैं और जो धर्म सब जातियों के लिये खुला था उसे आज वे अपनी पूँजी समझते हैं। उनकी यह भ्रांत धारणा उनके पतन का पसर्वोपरि कारण है।

महावीर ने अयुक्त व्यवहारिक भेद भावनाओं को कभी स्थान नहीं दिया। उनके पास ब्राह्मण और शूद्र समान भाव से आते एवं अपनी शंकाओं व उद्भ्रांतियों का निराकरण करते।

शैव शक्तादि समुदायों में यज्ञादि क्रियाकांड के बहाने पशु आदि प्राणियों की नृशंस हत्या की परिपाटी वेदों की दुहाई के साथ खूब जोरों से चल पड़ी थी एवं ढोंग व धोखे का बोलबाला था। महावीर ने विरोध किया कि वेदों के कुत्सित अर्थ करने की यह धारणा अयुक्त है तथा प्राणवध की अपेक्षा प्राण रक्षासे धर्म की प्राप्ति होतीहै। अन्य को दुःख देने के पूर्व वैसे ही व्यवहार द्वारा पाये जाने वाले अपने दुख के साथ उसकी तुलना करो यदि दुख अपने को अप्रिय लगता है तो दूसरे को कैसे रुचिकर होगा ? आज तुम्हारी परिस्थितियां अनुकूल हैं, तुम दूसरे को दुख दे सकते हो कल दूसरे की बारी होगी तब तुम ऐसे व्यवहार की वांछा नहीं कर सकोगे।

उनका यह अहिंसा उद्घोष गूँज उठा दिग्दिगंत में एवं कांप उठी पाप की काया, लड़खड़ाये उस के पैर और मेधावियों का समूह टोलियाँ बाँधकर सुनने आया उनका यह प्रवचन। प्रतारणा के स्थान पर क्षुद्रों को भी समृद्धों व उच्चों के समक्ष बैठने का अवसर मिला, मुग्ध हो गये लोग। पर स्वार्थ एवं लिप्सा जिनके जीवन की माला थी वे यों हार मानने वाले न थे। कर्कश शब्दों में महावीर के सिद्धान्तों की आलोचना की गयी, बहाने बना बना दोषारोप किया गया किंतु सत्य व अंतर त्याग की भावनाओंसे जिसको गढा गया हो वह यों उखड़ कैसे सकता था ? विक्षुब्ध हो स्वार्थी लोग महावीर के अनुयायियों को अनिश्वर वादी, नास्तिक अवेदिक कह कर पुकारने

लगे। दुख है कि पराधीनता की बेड़ी न पड़ जाने तक उनकी यह भ्राँति विलुप्त नहीं हुई। पराधीन होने के बाद वो क्या तो वे किसी को कुछ कहते और क्या दोषारोप करते सब कुछ तो लुटा दिया गया, फिर भी जैनों के प्रति स्वार्थियों के मुख से कभी कोई गुणोद्गार नहीं निकल पाये।

जैन संस्कृति का मूलाधार अहिंसा है, किंतु इसका अर्थ यह न था कि उन्होंने कायरता को अपनाया। अहिंसा शक्तिमान का धर्म है—जिसके भाव शुद्ध व विचार दृढ़ हों उसे अहिंसा पालन का अधिकारहै एवं ऐसे व्यक्ति में ही अहिंसा पालन की योग्यता आती है। व्यवहार में क्रम से अपनी भाव शुद्धि के अनुसार किस तरह से किस कोटि की अहिंसा का पालन क्योंकर कर सकताहै मनुष्य इसका विधान भाव साहित्य के सन्मुख महावीर की बड़ी भारी देन है। व्यवहार के जीवन में अपनी२ परिस्थिति व योग्यतानुसार अहिंसा का तभी पालन होसकताहै जब अपने२ स्तर पर दृढ़ता के साथ व्यक्ति खड़ा हो सके व अपनी योग्यता और पहुंच का उसे भान हो। अयोग्य की अहिंसा का नाम कायरता है। महावीर के शब्दों में दृढ़ता व सत्यता थी तभी समझदार कोटि के मनुष्यों ने इसे बहुत अपनाया एवं साथ २ अपनाया वीरों ने और क्रमशः सभी वर्गों में जैन सिद्धांत का प्रचार हुआ। आज कतिपय अनभिज्ञ व्यक्ति यह कहते नहीं लजाते कि अहिंसा प्रचार द्वारा ही भारतीयों की कायरता बढ़ी एवं वे अकर्मण्य बन गये। वस्तुस्थिति वास्तव में इसके ठीक विपरीत थी। मनुष्य को मनुष्य न मानकर उस पर अनाचार

अत्याचार करने की प्रवृत्ति के धार्मिक व्यवहार में आने के कारण ही भारतीय शक्ति सामर्थ्य को विदाई मिली । अहिंसा का हाथ कभी कायरता या अत्याचार बढ़ाने में रहा हो, यह मानने को कोई भी संयत तैयार नहीं हो सकता, जैन संस्कृति के वास्तव में विरोधी थे जाति भेद के पृष्ठ-पोशक और आज भी उनका विचार काठिन्य विलुप्त नहीं हो सका है, मध्य युग के जैन इस विरोध से घबड़ा उठे और अपने आपके जाति की जञ्जीरों में बांधकर बचने की सोची, विदेशियों के सामने तो उनकी यह सतर्कता किसी हद तक ठीक थी (क्योंकि वे अकेले पड़ गये एवं रक्षा का और कोई सुन्दर उपाय न सोच सके) किंतु आज यह भूल ही इस संस्कृति का काल बन रही है, एवं न सँभलने पर शायद ग्रास कर जायगी।

समय की आवश्यकता के अनुसार दिये गये महावीर के दो मुख्य तात्त्विक व व्यवहारिक उपदेशों का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। व्ययहार-जीवन के लिये तो यह उपदेश सामयिक व सर्वोत्तम था। इससे उत्तम व्यवहार नीति की इन दो सर्व श्रेष्ठ मानवीय भावों को मिलाने के लिये व्यवस्था आज तक कोई महानुभाव न कर सका। सहिष्णुता व भद्रता की, भारतीय संस्कृति ने मानवता को यह अत्यन्त मूल्यवान भेंट दी है, और इनके एकीकरण का सर्व प्रथम प्रयत्न करने वाले ऐतिहासिक युग के महावीर थे। आज मानवता उद्भ्रांत हो द्रुत गति के साथ अनिश्चित पथ की ओर गमन कर रही है; सुपथ निर्देश करते समय

इस युग के प्रधान महानुभाव ने भी इन्हीं मंत्रों का संदेश दिया है। इस देश के लिये इन दो प्रवृत्तियों का अनुगमन जिस तरह से अनिवार्य है उसी तरह समस्त मानव जाति के विकास की कुञ्जी भी इन दो गुणों को धारण करने पर ही उपलब्ध हो सकती है यह निस्संदेह है।

महावीर का व्यवहार के लिये तीसरा उत्तम उपदेश था "निरर्थक प्रवृत्तियों से अपने आपको मानव, बचाये"। भद्र जीवन के लिये आवश्यक कर्त्तव्यों व ज्ञान विज्ञान कला कौशल आदि विकास मुखी चेष्टाओं के परे की सभी प्रवृत्तियां उन्होंने अस्वीकृत कीं। " निरुद्देश्य, समय व शक्ति का अपव्यय करने के समान कोई महापाप नहीं है। एवं उद्देश्य की सार्थकता होती है, ज्ञान की उपलब्धि में, सेवा में, दया में व जीवन को सौम्य बनाने में, निरर्थक किसी को दुख देना या अपने मनोरञ्जन मात्र के लिये किसी को हानि पहुँचाना सभ्य को शोभा नहीं देते "। अपनी बुद्धि कौशल का उपयोग कर शक्तियों को प्राप्त करने के मार्ग में रुकावट नहीं खड़ी की गयी–इस विधान द्वारा, किंतु इस उपदेश द्वारा निरुद्दिष्ट पथ पर गमन करने की अवांछनीय धारा के प्रवाह को रोका गया। महावीर ने कहा कि उद्देश्य की उपयोगिता व सत्यता के लिये समतुलन (मेधा) की आवश्यकता है। प्रत्येक परिस्थिति, प्रसङ्ग या संयोग में व्यक्ति का कर्तव्य है कि विवेक का सहारा ले, उचित अनुचित का वर्गीकरण करे एवं तद् संयोग में जो अपेक्षाकृत उचित हो व दूसरों के लिये हानिकारक न हो उसको

उपादेय बनावे। इस "तुलना" का प्रयोगकर मानव क्रमशः, विवेक के, एक के बाद एक शिखर पर आरोहण करने की शक्ति व योग्यता पाता है एवं उसके जीवन में भद्रता का प्रसार सचमुच सार्थक हो उठता है। अपेक्षाकृत बुरा या भला—कुछ बुरा या कुछ भला—संयोग प्रत्येक प्रवृत्ति के समय उपस्थित होता ही है। इतना सा ध्यान रखले मानव कि अपनी भावनाओं को समझा कर ढलाव की ओर न जाकर चढ़ाव की ओर चल पड़े तो फिर कोई बाधा नहीं—किसी भी रुकावट को वह अतिक्रम करने की क्षमता रख सकताहै।

महावीर ने सदा वस्तु के निरपेक्ष—सापेक्ष स्वरूप को उसका सच्चा स्वरूप माना एवं यह कहा कि वस्तु का सापेक्ष स्वरूप भी निरपेक्ष के साथ २ समझने की चीज़ है—निरपेक्ष व सापेक्ष मिल कर ही वस्तु का सम्पूर्ण परिचय बनता है। निरपेक्ष में जहां स्व ही वस्तु का सत्य है वहां सापेक्ष में पर के उपयोग व सम्बन्ध का दिग्दर्शन होता है। यों तो निरपेक्ष स्वरूप ही वस्तु का स्वभाव व्यक्त करता है किंतु सापेक्ष के बिना उसके गुणों का प्रकटीकरण नहीं होता, अतः वस्तु प्रायः निष्कारण ही रह जाती है। दूसरी ओर, केवल सापेक्ष को ही हम वस्तु का सच्चा स्वरूप मानलें, एवं निरपेक्ष स्वभाव की सर्वथा उपेक्षा करें तो वस्तु के अस्तित्त्व तक में सन्देह किया जा सकता है। सापेक्ष तो दूसरों के सम्बन्ध से खिलने वाले स्वरूप का नाम है, अतः सापेक्ष उस सम्बन्ध तक ही विद्यमान रहता है (दूसरे पदार्थ न हों तो वस्तु का परिचय ही न मिल सके) भिन्न २ वस्तु की अपेक्षा से वस्तु का स्वरूप भिन्न २ रूप में भासित

होता है वह सब सापेक्ष है, अनेक वार ता ये भिन्न रूप एकदूसरे से इतने पृथक दिखायी देते हैं मानों ये एक वस्तु के स्वरूप ही न हों। उस शृङ्खला को सापेक्ष तो बनाये रख नहीं सकता, क्योंकि वह संबंध परिवर्तन के साथ बदल जाता है, उस शृङ्खला को कोई रख सकता है त निरपेक्ष स्वरूप, जो अनेक सम्बन्धों के परिवर्तन के समय भी एक रूप में विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिये "मानव" पदार्थ को लें तो हमें यह विदित होता है कि भिन्न २ समाज व देश आदि की दृष्टि से एक मानव के अनेक परिचय होते हैं—ग्राम, देश, जाति, व्यवहार आदि सम्बन्ध की अपेक्षा से कहीं का निवासी, किसी का सहोदर मित्र, पिता, माता, शासक आदि और न जाने कितने सम्बन्धों की अपेक्षा से वह क्या क्या हो सकता है—किंतु इतना पार्थक्य होने पर भी वह " वही मानव " है वही व्यक्ति है। उस व्यक्ति विशेष का पता लगाने के लिये एक २ सम्बन्ध अपेक्षा को पृथक पृथक लिया जाय तो किसी काल में भी व्यक्ति को खोज निकालना सम्भव नहीं हो सकता। उन सभी सम्बन्धों में एक अविरल धारा के रूप में प्रवाहित होने वाले उसके मानवत्त्व को श्रेय है कि उसके व्यक्तित्त्व को प्रकाशित करता है। विशेष संयोगों के नाश के साथ २ वे पृथक २ सम्बन्ध नष्ट हो सकते हैं पर व्यक्तित्त्व जीवित रहता है। अतः मानव के दोनों धर्म निरपेक्ष–सापेक्ष–मिलाकर ही व्यक्ति (अतः पदार्थ का) का परिचय पूर्ण एवं सत्य होता है।

जितने सूक्ष्म स्वरूप का परिचय पाना हो उतने ही सूक्ष्म संबंध व अन्तरधारा की जांच करने की आवश्यकता होती है। इसी

मानव को जब चेतन के रूप में समझने का प्रसङ्ग आता है तो उसके सम्बन्ध धर्मों के लिये उतने ही सूक्ष्म स्कंध व अणु की गहराई में उतरना अनिवार्य है। इस तरह क्रमशः अंतरङ्ग से अंतरङ्ग तत्त्व की शोध की जा सकती है और सापेक्ष निरपेक्ष द्वारा वह शोध परिपूर्ण होती है।

महावीर के इस विवेचन ने एकांतवाद के पृष्ठपोषकों को सिहरा दिया, निरुत्तर हो ही चुके वे पर व्यर्थ का बकवाद सदा करते रहे। आज वैज्ञानिक आइनस्टाइन ने संसार की आंखें कम से कम सापेक्ष स्वरूप के विषय में तो खोल दी हैं एवं विरोधियों को निरुत्तर कर दिया है। किसी भी वस्तु का सांयोगिक संबंध को लेकर पाया जाने वाला परिचय न स्थिर होताहै न पूर्ण और गहराई से देखा जाय तो यह ज्ञात हो सकता है कि तद्रूप में भी उसके अन्य संयोगों के अनुसार अन्य परिचय विद्यमान रहते हैं ये अन्य भिन्न २ परिचय, प्रसंग या उपयोगानुसार प्रधान व गौण हुआ करते हैं आज इस सत्य के आधार से समस्त विज्ञान का भविष्य उज्वल हो चुका है पर यह धारणा यूरोप की नहीं है, है भारत की। सर्व प्रथम भारत की। भारत ने इस तात्विक निर्णय का आविष्कार किया था तभी उनका न्याय संसार में सर्वोत्तम है।

निरपेक्ष सापेक्ष को स्वाभाविक शब्दों में समझाने के लिये महावीर ने कहा कि द्रव्य, गुण व पर्याय युक्त है केवल गुण अथवा केवल पर्याप्त से सत्य का दिग्दर्शन नहीं होता, दोनों मिल कर ही द्रव्य का पूर्ण परिचय कराते हैं। एक को बिदा देने से दूसरे का

स्वतः नाश हो सकता है, अतः द्रव्य भी विलुप्त हो जाता है। किन्तु द्रव्य नाशमान नहीं है द्रव्य अपने स्वरूप से अनिश्वर है, उसके संबंध (सापेक्ष) स्वरूप का अनंत वार भी नाश क्यों न हो गुण का नाश नहीं होता। द्रव्य में ये तीन धर्म सदा सर्वदा विद्यमान रहते हैं उत्पत्ति, स्थिति व व्यय। द्रव्यत्व की अविरल धारा को प्रवाहित करने के लिये अथवा प्रमाणित करने के लिये ये तीनों अनिवार्य हैं। समय के प्रवाह के साथ, पदार्थ का अस्तित्व कहता है कि "वह" भी बड़े अस्तित्व कार्य से (क्रिया से) प्रमाणित होता है, निश्चेष्ट रहने से नहीं। कहीं भी कभी भी, कोई पदार्थ निश्चेष्ट हुआ कि उसका विलोप हुआ—सापेक्ष संबंधों के नाश का भी यही कारण है, निश्चेष्टता अकर्मण्यता सब कुछ के नाश का मूल मंत्र है। कर्मण्यता जीवन है एवं प्रवाह के समान है, उसप्रवाह के ये तीन चक्र हैं—संयोगानुसार उत्पत्ति, संयोगानुसार वस्तु के तद् स्वरूप की काल विशेष तक स्थिति एवं क्रमशः उसका व्यय किसी नवीन उत्पत्ति के लिए।

एक ही रूप में पदार्थ स्थिर हो जाय तो प्रवाह की गति रुक जाती है। और प्रवाह के रुकते ही पदार्थका कोई महत्व या उपयोग नहीं रहता एवं वह तद् रूप से व्यतीत हो जाता है। यह प्रवाह जीवन के लिये नितान्त अपेक्षित वस्तु है। प्रवाह के उपरोक्त तीन प्रधान स्तम्भ हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उत्पत्ति स्थायित्व व व्यय किसी क्षण रुकते नहीं, ये तीनों एक साथ अपना कार्य करते रहते हैं और तभी द्रव्यत्व का प्रवाह अव्याबाध गति से समय के

साथ चलता रहता है। इन तीनों क्रमों के अनिरुद्ध प्रवाह से पदार्थ जीवित है। कहीं किसी भी क्रम को अनियमित किया जाय अथवा तोड़ा जाय तो उस द्रव्य का प्रवाह (जीवन) लड़खड़ा जाता है एवं विध्वंश लीला सी उपस्थिति हो जाती है, महावीर के इस उपदेश में कितना गूढ़ रहस्य है इसे आज के वैज्ञानिक अल्पांश में समझ कर या उसका प्रयोग कर अपने आपको कितना शक्तिशाली मान रहे हैं यह विज्ञों से अविदित नहीं है।

सापेक्ष निरपेक्ष सभी प्रकार के तत्त्वों के रहस्यों का स्पष्टीकरण जैसा महावीर ने कहा है उसकी व्याख्या करने बैठें तो ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। पर विस्तार भय से हमें अपने विवरण को संक्षिप्त करना पड़ रहा है। अतः हम उपरोक्त क्रम से उल्लेख मात्र करते हुये अग्रसर होते हैं।

संसार के स्वरूप को समझने के लिये महावीर ने द्रव्यत्त्व की परिभाषा जब उत्पाद, ध्रौव्य व व्यय में की तो विद्रोही उत्तेजित हो उठे, पर इस अकाट्य युक्ति के सामने किसी के पास कोई उत्तर न था। उन्होंने समझाना शुरू किया कि जिस पदार्थ को द्रव्य मानने की ओर अग्रसर होना हो, सर्व प्रथम और सर्वान्त मे यही देखना है कि यह क्रम कहीं टूटता तो नहीं है? उत्पत्ति के साथ २ व्यय को स्वीकार किये बिना सत्य की स्थापना नहीं होती (अन्यथा उत्पत्ति निरर्थक व निष्कारण अतः असत्य हो जाती है) एवं सर्वदा स्थिति को एकान्त रूप

से मान लिया जाय तो प्रवाह के निरुद्ध हो जाने के कारण पदार्थ को जीवित रखन भी संदेहजनक हो जाता है। यदि निष्कारण स्थिति का कोई प्रमाण नहीं एवं अप्रमाणित सत्य को मान लेने से समस्त सत्यों का गला घुटता है। वैदिक धर्मों ने साकार रूप से इन तीन सत्यों को (स्थूल रूप से) स्वीकार कर ही तो लिया और बाद में ब्रह्मा, विष्णु व महेशाकार में इन परम सत्यों को तत्त्व का सर्वोपरि माना। भारतीय संस्कृति ने इस चरम सत्य को प्रकट कर मानों अभेद्य तत्व का पटाक्षेप किया और समस्त मानव जाति का मुख आलोकित कर दिया।

महावीर आगे बढ़े, उन्होंने सूक्ष्म रूप से इस मूल मन्त्र का प्रयोग कर द्रव्यों की संख्या निर्णय करने को ठानी। चेतन द्रव्य सर्व प्रधान सर्व विदित एवं सर्व प्रथम है। चेतन एक नहीं हैं, अनेक हैं, एक जैसे अनेक हैं पर सब मिलकर एक (ही) नहीं। कार्य, कारण व परिणाम भिन्न हैं, भावना व चेष्टा में भिन्न हैं, संयोगों के प्रभाव भिन्न हैं, रुचि व प्रवृत्ति भिन्न हैं, उत्पत्ति, स्थिति व व्यय भी भिन्न हैं तो एक क्योंकर माना जाय—चेतनों को। सब कुछ एक ही हो तो भिन्नत्व दिखाई देने का कोई कारण नहीं। सत्य का स्वरूप अप्राप्य है, अथवा अभेद्य है, अथवा यह सब एक बृहत् चेतन की माया है—ऐसा कह कर तो सत्य के मूल स्वरूप को टालने का प्रयत्न करना है। सामान्य बुद्धि के लिये ईश्वर चेतन ही समझने की वस्तु है, अनेक चेतन के तत्त्व को थोड़े से व्यक्ति हृदयङ्गम कर सकते हैं—ऐसा मानकर

एक चेतन की कल्पना करना कुछ समय के लिये भले ही युक्ति युक्त हो, परन्तु सत्य को आवरित करने का यह क्रम महावीर की दृष्टि में उचित नहीं लगा। पारतन्त्र्य से विमुक्त हो ज्ञान व सत्य से अपने आपको आलोकित करने वाले आत्मा सचमुच एक सदृश है, अतः एक रूप मानने में कोई बाधा नहीं—यह सापेक्ष सत्य स्वीकार करने में क्षण भर के लिये कोई बुराई नहीं होती, पर चेतन के एकीकरण का प्रयत्न युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता। सत्य को सुव्यवस्था से घसीट कर मानों विशृङ्खलता व निरंकुशता की ओर ले जाया जाता है इस तरह। व्यक्ति ईश्वर की कल्पना कर उस पर सारा आरोप लादने की प्रचेष्टा, स्वतन्त्रता के पुजारी महावीर के लिये अमान्य थी। उन्होंने व्यापक भाव से बन्धन मुक्त (अन्य द्रव्यों के पारतन्त्र्य से शुद्ध) आत्माओं को ईश्वर मानने की गाथा को स्वीकार किया, पर कभी चेतन द्रव्य को एक में मिलाकर नष्ट करने पर उतारू न हुवे वे। इस असत्य को स्वीकार करने से प्रवाह के त्रयी मन्त्र का कोई महत्व नहीं रहता एवं इस त्रयी से भिन्न रखकर किसी पदार्थ को प्रमाणित करना नितांत भ्रमात्मक है—यह कोई भी मनीषी अमान्य नहीं कर सकता।

अंतर भावनाओं में कारण विशेष वश व्यक्ति ईश्वर की कल्पना रुचिकर लगती हो तो बुरी बात नहीं, पर सत्य को सर्वथा इस आधार पर स्थापित करते ही उसका बहुत विशाल एवं पवित्र भाग निरावरित नहीं हो सकता। कभी किसी ने

व्यक्ति रूप ईश्वर को चर्म चक्षु से नहीं देखा। निष्कारण या ज्ञान चक्षु अनुत्पन्न पर सदा स्थिर रहने वाले ईश्वर को इस प्रकार तत्त्व का गला घोंटकर मानने की पद्धति मनीषियों के मन को सचमुच प्रकाशित न कर सकी—किसी काल में भी।

भावोद्वेग में चाहे कोई कितना ही ईश्वर को क्यों न स्वीकार करे पर सत्य की स्थापना उस आधार पर नहीं की जा सकी कभी। "सत्य" सर्वदा एकाकार है, निश्चल है, सर्व व्याप्त है, बाधा बंधन हीन है, अमर है—यह कोई भी अमान्य नहीं करता। पर उसी सत्य को हृदयंगम कर यदा कदा उसके सर्व व्यापी रूप को देख कोई मेधावी उसको व्यक्तित्व का बाना पहना दे तो वह सचमुच व्यक्ति नहीं बन जाता। सत्य ईश्वर है यह सभी मानते हैं, महावीर ने भी माना पर उसे हाथ पैर हाड़ मांस या आकार धारण करने वाला व्यक्ति नहीं माना। विचार के तारापथ पर गमन करने वाले मनीषियों से अविदित नहीं है कि ईश्वर तो सभी नियमों में, स्थानों में, काल में परिव्याप्त रहने वाले प्रवाह का ही का दूसरा नाम मात्र है। यह नियमित अव्याबाध अपरिमेय शक्ति संपन्न महाप्रवाह सर्व महान है, इस के रोक की कल्पना सहज नहीं, सचमुच यही ईश्वर है—प्रवाह के तीनों प्रधान स्वरूपों को लेकर भिन्न २ दार्शनिक पद्धतियों का अनुगमन करने वाले समूहों को उत्थान पथ की आदि में बड़ा सहारा मिला एवं बड़े विशाल साहित्य की रचना हुई। महावीर ने विरोध किया तो केवल इतना ही कि बुद्धि गम्य बनाने के लिये

ईश्वर को साकार मानकर भी व्यक्तित्व का चोला पहनाने से विचार धारा उद्भ्रांत हो विपथ गमन कर सकती है। ईश्वर रूप से तीनों शक्तियां सर्वव्यापी हैं व निरंतर प्रवाहित होती हैं-सब पदार्थ में सब काल में, अतः यही ईश्वर है एवं सर्वत्र विद्यमान है।

ईश्वर व्यक्ति का विरोध था महावीर के शब्दों में ईश्वर शक्ति या ईश्वर आत्माओं का नहीं, अतः महावीर के सिद्धांत को अनिश्वरवादी कहना भूल व भ्रांतिपूर्ण है।

चेतन को इस तरह अविनश्वर व पृथक २ मानकर सत्य पथ पर चलने की आवश्यकता व तद् हेतु प्रयत्न की अपेक्षा पर जोर दिया गया। एक ईश्वर के भरोसे सब कुछ छोड़ने से अकर्मण्यता ही बढ़ी इस देश में। जहां महावीर ने यही कहा कि पुरुषार्थ की परम आवश्यकता है, किसी के भरोसे छोड़ने से कुछ नहीं होता, अपने आप प्रयत्न करने से आलोक की प्राप्ति सार्थक हो सकती है- अन्यथा नहीं। प्रयत्न करने से ही पूर्वकृत भावों व कार्यों के परिणामों का उच्छेद किया जा सकता है एवं रुचिकर परिस्थितियों व अंधकार अज्ञानता से त्राण पाया जा सकता है। किसी अन्य ईश्वर की कोई शक्ति नहीं कि किसी को बुरे या भले से बचाले- यदि ईश्वर व्यक्ति के हाथ में बुरे या भले परिणामों को बदल सकने की सत्ता दे दी जाय यो उचित अनुचित के नियम का भङ्ग होता है-यह जवाब था महावीर का अकर्मण्य बनाने वाले साकार ईश्वरवादी सिद्धांत के सामने। जब कार्यों का परिणाम अन्य व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर हो तो सामान्य चेतन व्यर्थ को कष्टकारी

सुपथ पर क्यों चले। आमोद प्रमोद के सुगम मार्ग को परित्याग करने की प्रेरणा पराश्रयी होने में कभी नहीं मिल सकती।

संसार के किसी भी दार्शनिक सिद्धांत ने महावीर की तरह सर्वथा युक्ति के आधार पर अपनी तत्त्व व्याख्या को स्थिर रखने में सफलता नहीं पाई। बिना युक्ति युक्त कारण के महावीर कभी चेतन को पराधीन या स्वाधीन बनाने को उद्यत न हो सके, तभी उनका चेतन दूसरे के हस्तक्षेप से सर्वथा विमुक्त रहा। अपने भावों व कार्यों के अनुरूप काल के अनवरत प्रवाही पथ पर चेतन की सदा अव्याबाध गति से अग्रसर होते माना उन्होंने। संयोग व परिस्थियों के दबाव में दबे रहने तक चेतन की पर प्रभाव से मुक्ति कहां? एवं भावों व कार्यों की सुसंस्कृति कहां? संयोग व परिस्थितियों के बीच खड़े रहकर, कारण व कार्य के क्रमशः सूक्ष्म संबंध का बोध प्राप्त कर, अयुक्त परिणामी कार्यों से मुक्त होते हुए भाव जगत् में प्रवेश कर, उसी तरह क्रमशः अयुक्त भावों का प्रक्षालन करने से ज्ञान की शोभा अंतर में निखरती है, अज्ञान का अंधकार तिरोभूत होजाता है एवं आत्मा पर के सहारे नहीं रहता बल्कि अपने स्वातन्त्रय को व्यक्त कर निश्चिंत आलोक पथ पर अग्रसर होता है। इस यात्रा में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं किसी के हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं—अपने स्वत्त्व व साधना के सहारे अग्रगति करने में सर्वथा स्वतन्त्र है आत्मा। बन्धन व बाधा अपनी अज्ञानमयी निष्चेष्टता की होती है या हो सकती है और उसे दूर करने से क्रमानुसार आलोक पथ पर जाने की योग्यता आती है।

सूक्ष्मतम (चक्षु अग्राह्य) देह को धारण करने वाले (चेतन) जीव शारीरिक सुख दुख के स्वरूप को भी समझ नहीं पाते और अधिक तो क्या समझें। जड़ के पांच गुणों की शरीर में अभिव्यक्ति हुये बिना विचारशक्ति का पूर्ण विकास सम्भव नहीं और यह परिपूर्णता मानवाकार में ही सिद्ध होती है। अतः मानव देह धारण न करने तक तो यों ही संयोगानुसार पर्यटन करने को बाध्य होना पड़ता है चेतन को । मानव-पशु अवस्था भी प्रायः ऐसी सी ही बीतती है, कोई परिवर्तन नहीं, क्योंकि मस्तिष्क की शक्तियों का प्रयोग न कर हाथ पर हाथ धरे बैठने वाले को पशु कोटि से उच्च नहीं माना महावीर ने । कार्य के कारण का पूर्वानुमान कर एवं उचित अनुचित का वर्गीकरण कर, उचित का ग्रहण व अनुचित के परित्याग का उपदेश दिया उन्होंने। यह उनका साधना मार्ग था, जिसमें सर्व प्रथम निरर्थक प्रवृत्तियों का त्याग एवं अन्य जीवों को यथासाध्य अपनी तरह सुखी करने की कामना बड़ी बनकर साधक के समस्त व्यवहार को सौम्य बनाये रखती।

अपने जीवन को ज्यों २ पराश्रयी सुखों से परे करने में समर्थ हो त्यों २ मानव, सामान्य व्यवहार से उठता जाय एवं भाव विकास के साथ २ प्रवृत्ति द्वारा औरों को युक्त पथ पर ले जाने का प्रयत्न करे। इस तरह एक २ व्यक्ति अपना साधना काल व्यतिक्रम कर साध्य ज्ञान व स्वातन्त्र्य की उपलब्धि को सार्थक बना सकता है। इसके विपरीत चलकर कोई भी कभी भी सत्य का दिग्दर्शन नहीं कर सकता तथा न कोई सत्पथ पर चलने

का अन्य मार्ग है। यह क्रम सदा सर्वदा अव्याबाध है, न इस क्रम में चेतन का अन्त है, न संसार का। न कभी प्रलय होकर सब कुछ विलीन हो जाता है और न निष्कारण शून्य में से उत्पन्न होता है। दिन के बाद रात की तरह यह जगत् तो सदा काल से अतीत के भण्डार को भरता हुआ अनागत की ओर अग्रसर हो रहा है और सदा होता रहेगा। अपने प्रयत्न पर निर्भर है या तो स्वतन्त्र होना या यों ही निष्चेष्ट रहकर मूक अज्ञानमय जीवन व्यतीत करते हुये काल के प्रवाह में बहे जाना।

एक २ चेतन को महावीर ने पृथक २ सत्ता दी। अर्थात् चेतन, जड़ के सूक्ष्मतम अणु की तरह एक २ पृथक द्रव्य है, किंतु जड़ जिस तरह दूसरे २ जड़ों के साथ घुल मिलकर कार्य करता है, उस तरह चेतन अन्य चेतनों के साथ सर्वथा मिल नहीं जाता। एक शरीर धारण कर लेने पर भी चेतन दूसरे के साथ मिलता नहीं और न अपने व्यक्तित्त्व को खोता है।

चेतन, सचमुच, एक मेक में ओत प्रोत भावात्मक प्रदेशों का समूह है एवं ये असंख्य प्रदेश विभाज्य होते हैं। जड़ द्रव्य सूक्ष्मतम जड़ाणु—का यथार्थ स्वरूप है, एकाणुत्व में; उसी तरह जीव द्रव्य का यथार्थ स्वरूप है, एक जीवत्त्व में। किंतु स्वरूप का भेद दोनों के एकत्त्व की परीक्षा करने से स्पष्ट हो सकता है। एक परमाणु जहां सचमुच एक है, एक जीव वहां असंख्य भावनाओं का पुतला है। परमाणु के बिभाग नहीं किये जा सकते अर्थात् और टुकड़े नहीं हो सकते उसके; जीव के भी विभाग नहीं किये जा

सकते, पर जीवके इस एकत्त्व में अनेक भाव राशियों का अनेकत्त्व विद्यमान रहता है। यह अनेकत्त्व सचमुच एकत्त्व ही है, क्योंकि जीव के टुकड़े नहीं होते, चाहे संख्यातीत भिन्न भावनाऐं क्यों न निरन्तर उत्पन्न या एकत्रित होती हों—उस अविछिन्न एकत्त्व में बाधा नहीं आती। भावनायें भी कोई आकाश कुसुम की तरह काल्पनिक वस्तु नहीं हैं बल्कि वास्तव में वे शक्ति रूप चेतन स्पन्दनायें हैं, जिनका परिणाम होता है, व पदार्थों पर प्रभाव भी पड़ता है।

चेतन का यही विशेषत्त्व सहसा मेधावियों को भी दृष्टिगोचर नहीं होता और यदा कदा वे भूल जाया करते हैं कि इस एकत्त्व में संख्यातीत अनेकत्त्व का समा-वेश क्यों कर हो सकता है। महावीर के अतिरिक्त किसी ने इस तरह के दार्शनिक सिद्धांत का सूत्रपात करने की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। जड़ाणु की तरह जड़ाणु के जवाब में भावाणु की यह धारणा अत्यन्त मौलिक है एवं किसी दिन जीवत्त्व के स्वरूप को व्यक्त करने के लिये इसी का सहारा लेकर मानवता को अग्रसर होना पड़ेगा। गहराई से देखा जाने पर विदित होता है कि चेतनत्व के इस अविभाज्य एकत्त्व एवं अनेकत्त्व के आकार में, साथ २ निरन्तर प्रवाहित होने वाली अनंत अपरि-कल्पनीय अनंतमुखी भाव धाराओंका अटूट सामञ्जस्य कहीं मानव बुद्धि के हस्तगत हो सकता है, तो केवल इसी महावीर की दी हुई विचार प्रणाली का अनुगमन करने से।

भावाणुओं की परिकल्पना या उनके स्वरूप आदि के व्याख्यान करने की रुचि इस समय नहीं होती। यह विषय लेखनी द्वारा

पूर्ण अभिव्यक्ति न पाकर, मनन ध्यान अथवा सूक्ष्म विचार विमर्श के अंतरङ्ग पथ से ही सुगमतया अतिवाहित होता है, यह हमारा निश्चित मत है।

महावीर के अनुसार चेतन भावाणुओं का पुतला है। ये भावाणु (प्रदेश) कैसे भी संयोग पाकर किसी भी कारण से कभी पृथक नहीं होते, न हो सकते हैं–यह अटल ध्रुव नियम है। जब जड़ाणु से मिलने वाले आघात प्रत्याघात उसके इस अनेकत्त्व भरे एकत्त्व को झकझोरने में भी समर्थ न होते तो सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य की उपलब्धि होने पर उसके सघन नियंत्रित ज्ञान प्रवाह को आंदोलित करने की क्षमता रखने का सामर्थ्य अन्य किस में हो सकता है ?

व्यवहार के जीवन में इस सत्य को हम निरंतर अस्खलित रूप में प्रवर्तमान होता देखते है, पर कुछ इने गिने महानुभाव ही इसके महत्त्व को हृदयङ्गम कर पाते है। हम मानव को ही उदाहरण स्वरूप लेते हैं (क्योंकि हम स्वयं मानव हैं और मानवीय भानवाओं के उतार चढ़ाव या विभेद स्वयं अनुभव कर सकते हैं)। शैशवकाल से लेकर जराकीर्ण होजाने तक वही एक चेतन प्रासांगिक प्रायोगिक अथवा अन्य प्रकार से आई हुई असंख्य भावनाओं को धारण किये हुये मानों तद्‌शरीर में अस्खलित भाव से जीवित है। अन्य चेतनों (मनुष्यादि) के निकटतम सम्पर्क में आनेपर भी हमारे अनुभव से यह सत्य कभी क्षण मात्र के लिये भी तिरोहित नहीं होता कि " हम किसी दूसरे के भाव क ले सकते हैं न दूसरे को अपना भाव दे सकते हैं " भाषा, इंगित, चेष्टा आदि द्वारा

हम भाव सामञ्जस्य लाने का अनेक बार निष्फल तो अल्प बार सफल प्रयत्न किया करते हैं, किंतु सचमुच कभी क्षण मात्र के लिये भी आदान प्रदान नहीं कर पाते। उदाहरण स्वरूप इंद्रिय सम्बन्धी भोग उपभोग को लें—एक ही आम का स्वाद दो व्यक्ति एक ही पाने पर भी एक स्वाद मय एक स्थान व वातावरण में क्यों न लेते हों, एक समान स्वाद नहीं पाते: विचार व भाव वैसा दृश्य से यह स्वाद यों ही एक समान नहीं होता फिर भी इन सब के सादृश्य को स्वीकार करके भी देखा जाय तो भी यह स्पष्ट है कि कोई किसी का भाव ले दे नहीं सकत.– चेतन का चेतन से यह पार्थक्य कभी विलुप्त नहीं होता।

प्रत्येक चेतन अपने भावों के अनुरूप ही सुख या दुख का अनुभव करता है, इसमें कहीं कभी कोई बाधा नहीं आती। संयोगवश वह अपने भावों में स्वयं हेर फेर करने की क्षमता अवश्य रखता है, पर अन्य कोई उसके भावों में उसकी इच्छा के विरुद्ध परिवर्तन नहीं ला सकता। किसी भी अन्य चेतन की पहुंच शारीरिक कार्यादि से लेकर मानसिक तर्क वितर्क को प्रभावित करने से अधिक दूर नहीं पहुंच पाती। यह हम मानते हैं कि जड़ पारतन्त्र्य के कारण अमुक्त चेतन पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रभावानुसार ही मूक भाव से सोचता या समझता है, पर उसका सोचना या समझना सब कुछ अपना है, दूसरे का दिया हुआ नहीं। तभी जिस मुहूर्त से कार्य, कारण व परिणामों के विषय में ऊहापोह करने की प्रेरणा जागृत होती है, उसके क्रमशः प्रसारित

होने वाले स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति को आच्छादित करने की क्षमता किसी शक्ति में नहीं होती।

किसी भी मानसिक धारणा को वह स्वयं उत्पन्न करता है, स्वयं स्थिर रखताहै एवं विचारभाव परिवर्तन के साथ स्वयं क्रमशः उसे व्यतीत होने देता है। जब तक अज्ञ भाव से मूक व निःशब्द होकर वह संयोग व परिस्थितियों के चलाये चलता है, उसकी धारणायें स्वतन्त्र, स्पष्ट या ज्ञानालोकित नहीं होती, पर वहां क्यों, कैसे, किसलिये, क्या आदि अंतरभेदी प्रश्नमालाओं द्वारा संयोग परिस्थिति के कक्ष को भेदकर उसकी भावनायें असंयत से संयत, अनुचित से उचित, स्वार्थ से निःस्वार्थ, अज्ञान से ज्ञान, असत्य से सत्य के पार्श्व-वर्ती क्षेत्र से प्रवाहित होती है, उसके स्वातन्त्र्य युग का उद्भाव होता है एवं प्रत्येक कार्य के कारण का पूर्वानुमान करने की क्षमता उसे दृढ़ और शक्तिमान बनाती रहती है।

वर्तमान की अपरिकल्पनीय विशालता को अपनी सूक्ष्मांतर भेदी सत्य धारणाओं द्वारा आत्मसात् कर अतः भूत के पूर्वांध-कारमय अनंत के प्रभाव से उन्मुक्त हो जब वह अनंत अनागत के सन्मुख दत्तचित्त हो दृष्टिपात करताहै तो, समस्त अंतर तत्वों के बोध द्वारा पुंजीभूत शक्तिमयी आलोक राशि अव्याबाध गति से अज्ञता के सघन अन्धकार को चीर कर उसके लिये, सब कुछ को संभव, प्राप्य एवं स्पष्ट कर देती है।

चेतन का यह रूप इतना विशाल एवं व्यापक है कि उसे ईश्वर कहे बिना छुटकारा नहीं—महावीर ने भी अस्वीकार नहीं किया, पर वे उस चेतन को इतनी बड़ी उपलब्धि के उपरांत

खोने के लिये उद्यत न हो सके। उन्होंने कहा कि "चेतन, यहां इस विशालता तक पहुँच कर भी, व्यक्तित्व को नहीं खोता"। बिशालता उसे लील नहीं जाती, बल्कि वह उस दिग्दिगंतव्यापी प्रवाह की शक्ति का मानों अधिनायक हो जाता है।

अंधकार से आलोक तक पहुँचने के क्रम का दिग्दर्शन कराने के लिये उन्होंने जो व्यवस्था बतायी, वह शायद, समस्त वाङ्मय में अद्वितीय है। उनके कर्मसिद्धांत की व्यवस्था के समान परिपूर्ण कभी कोई अन्तर भावों का वर्गीकरण न कर सका। अनभिज्ञ समान्य बुद्धि, मध्यकालीन संप्रदायवादियों के हाथों कुछ अनावश्यक परिवर्तनों के समाविष्ट किये जाने पर भी महावीर की कर्म व्यवस्था अजोड़ है। उदाहरण स्वरूप हम ज्ञान का आवरण करने वाले मनोभावों को लें तो, ईहा, अवाय, धारणा आदि भेदों से लेकर चक्षुग्राह्य सूक्ष्म तत्त्वों के आधार पर स्थिर रहने वाले ज्ञान सम्बन्ध का जैसा उल्लेख पाया जाता है; वह हमारे समस्त मनको प्रफुल्लित कर देता है। ज्ञान के ये विभाग साहित्य जगत् में अद्वितीय हैं। मोह के आवरण को लेकर जिन अन्तर भावनाओं की परिस्थितियों का दिग्दर्शन जैन वाङ्मय में मिलताहै वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने को अन्तर देखने की बड़ी सुविधा प्रदान करता है।

कौन सी अयाचित भावनाएं क्यों कैसे असावधान जीव को अभिभूत कर अपनी परिधि से बाहर नहीं होने देतीं यह सहज में अनुमित किया जा सकता है महावीर के कर्म विभाग को

देखकर। यहा सानुकूल दोनों तरह की परिस्थितियों का वर्णन मिलता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद भी अगोचर नहीं रहे हैं।

इन सब से अद्वितीय है जड़ानुयायी कार्मिक कही जाने वाली प्रवृत्तियों का जीव की भावनाओं के साथ का सम्बन्ध, जिसका उल्लेख भी महावीर की प्रखर विशुद्ध ज्ञानधारा से अगोचर न रहा। कर्म के महत्व व परिणाम को लघु या विशाल बनाने वाली अन्तर प्रेरणा के आधार पर किये गये चार विभाग समस्त कार्मिक उछल कूद के रहस्य को प्रकट कर देते हैं। जीव रसास्वादन की तरह जितना लुब्ध हो अनुचित वासनाओं का आस्वादन करता है, तन्मात्रा में उसकी भावनाओं पर कालुष्य की गहरी रेखा खिंच जाती है, एवं परिणाम को भोगते समय उसके कष्ट की गहराई उतनी ही तीव्र व अन्त तल स्पर्शी हो उठती है। पर के सुख की अवहेलना कर या अवज्ञा कर जितनी उपेक्षा के साथ वह दूसरों को दुख देने को तत्पर होता है, उसके अनुरूप, कर्मोदय काल की अवधि उतनी बड़ी बन जाती है। बाहर से आच्छादित करने पर भी अन्तर प्रवृत्तियों के अनुरूप कार्मिक भावधारा का वर्गीकरण होताहै; ताकि परिणाम के समय ठीक वैसा ही प्रकृति की बाधा खड़ी हो। एवं सर्वाधिक अन्तर तलस्पर्शी विभाग था चेतन भावनाओं पर जड़ के प्रभाव के कारण होने वाले (चेतन में) विद्रूपीकरण का वर्णन।

कर्म वास्तव में जीव की अयुक्त पराश्रयी भावनाओं का द्वितीय नाम है। पर को जड़ कहते हैं, इस पर के आश्रय से भावनायें प्रभावित होती हैं। जड़ स्वतः तो कर्म है नहीं, न कर्म

कोई स्वतन्त्र द्रव्य कहा जा सकता है कि जीव की प्रवृत्ति विशेष के कारण उस पर आ लदे या चिपक जाय। कर्म जीव की विकृत प्रवृत्ति भिन्न और कुछ नहीं। चैतनत्त्व के असंख्य भावाणुओं में जिस प्रकार जिस २ रूप में विकृति की उपलब्धि होती है, उसे ही महावीर बोल उठे–प्रदेश बंध, यही प्रदेश बंध चेतन व जड़ के सम्बन्ध स्वरूप को स्पष्ट करता है। इस प्रदेश वध के कारण जड़ जीव के संयोग से उत्पन्न हुये वैचित्र्य को कर्म कहा गया है, इसका प्रभाव परस्पर दोनों पर होता है।

"प्रदेश" जैन सिद्धांत का पारिभाषिक शब्द है; इसके महत्व को समझने के लिये पृथक ग्रन्थ का निर्माण करने की आवश्यकता है। आजतक आधुनिक विज्ञान या दार्शनिक सिद्धान्त, प्रदेश के समान सूक्ष्म विभाग का बोध कराने वाले भाव का अनुसंधान नहीं कर सका है। चेतन, प्रदेश बंध के कारण ही जीवाकार में नाना प्रकार की अठखेलियाँ करता है। कर्म की मीमांसा बन्धन मुक्ति व ज्ञान की उपलब्धि के लिये कितनी महत्वपूर्ण है, यह तो कोई अन्तर भावों में प्रवेश कर के ही अनुभव कर सकता है पर युक्त्याश्रयी व अत्यन्त सुस्पष्ट होने के कारण बुद्धि के समकक्ष भी इसका मूल्य अमूल्य है।

महावीर ने भाव शुद्धि व कर्ममुक्ति के सहारे जीव के उन्नति व अवनित क्रम का सुलभ बोध कराते हुये आरोहण अवरोहण के कई स्थिति स्थान बताये, जो जीव के विकास स्तर को अवगत करने के लिये मापयन्त्र के सदृश हैं। अमुक वासनाओं को

आश्रय देने वाली मानसिक व कायिक प्रवृत्तियों के विद्यमान रहने तक जीव स्तर विशेष से ऊपर उठ नहीं सकता एवं तद् अपेक्षा शुद्ध परिस्थिति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की उपलब्धि सार्थक नहीं हो सकती – यह उन स्थिति स्थानों को देखकर कोई भी व्यक्ति अनुमान कर सकता है। दूसरों को कितना ही धोखे मे कोई क्यों न रक्खे, वह स्वयं जान सकता है कि उसका आवास कहां है।

महावीर के बाद ज्ञान पथ के कई पथिकों ने, भिन्न भिन्न स्थिति स्थानों मे पहुंच कर प्रगति क्रम को, पूर्ण उत्साह के साथ उर्ध्वगामी रखते हुये, अन्तर अनुभूतियों से ओत प्रोत भाव साहित्य का निर्माणकर, सत्य की उपलब्धि को सचमुच अनेकाश मे जिज्ञासु के लिये सरल बनाने मे सफलता प्राप्त की। किंतु उपेक्षा के कारण वह साहित्य अपेक्षाकृत अविदित है, यह जैन संस्कृति के प्रेमियों के लिये बड़े लज्जा की बात है। और इस से भी अधिक निंदनीय रहा है उन स्वार्थियों का क्षुद्र प्रयास, जिन्होंने अपने शिथिलाचार की पुष्टि के लिये आवश्यक एवं प्रतिपादित सत्य नियमों में अपेक्षाकृत अयुक्त प्रवृत्तियों को सम्मिलित कर ही तो दिया। मन माने अर्थ लगाकर व समय के अधो प्रवाह की कल्पना कर उन्होंने सत्य को आच्छादित करने में किस हद तक सफलता पाई, यह आज की अवांछनीय परिस्थिति से स्पष्टतया जाना जा सकता है। जिब अन्तर शुद्धियों के सहारे उन्नति क्रम को बुद्धि गम्य बनाने के लिये महावीर ने स्थिति स्थानों की व्यवस्था की थी, उस में केवल

मात्र बाह्याडम्बर को प्रधानता देकर आत्म ज्ञान के पथ को सदा के लिये रुद्ध करने का अपराध करने वाले कापुरुषों के कुसाहित्य का ही आज प्रचार रह गया है—यह देख किसको ग्लानि नहीं होती।

महावीर के नियम युक्त्यानुयायी व अकाट्य होते थे। उनका कहना था कि "स्थिति विशेष (परिशुद्ध) में पहुँचने के पूर्व क्रोध की, मान की, विश्वास की, व्यवहार की, विचार की अन्तर भाव धारा परिष्कृत होती हुई, सघन पार्वतीय वन-प्रांत की तरह उत्कट विषम उपत्यकाओं को अतिक्रम करने के बाद,सुरभित सुरम्य हारीत पल्लवराशियोंके समान सहिष्णुता,समानता,करुणा व आत्मबोध के बीच मन्द स्थिर गतिसे अग्रसरहोतीहै। कहींकोई भेद नहीं,रोक नहीं अपेक्षा नहीं,सबके लिये समान भावसे सदा ये नियम लागू होतेहैं।

कुत्सित कर्दम के सर्वथा विलुप्त होने पर ही जिस तरह स्वच्छ, स्फीत, शुद्ध व गुणकारी जल राशि का प्रशांत प्रवाह, सम्भव है, उसी तरह वासना उद्वेग, स्वार्थ कपट, प्रमाद, लोलुप्य, क्रोध एवं मोहादि भाव विकृतियों के सर्वथा तिरोहित होने पर ही आत्मा की निर्मल, सौम्य, प्रशांत, गम्भीर ज्ञान धारा ज्ञेय पदार्थों के अन्तर बाह्य को अनावृत कर सख्यातीत श्रेणियों में अनागत के कक्ष को भेदते हुये अव्याबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। महावीर ने किसी के लिये भी नियम का उल्लंघन कर प्रगति-पथ-आरोहण सम्भव या सुलभ नहीं माना, तभी वे यह कह गये, "सब के लिये हर काल में एक ही व्यवस्था है"।

कर्म श्रेणियों में "आयुष्य कर्म" की धारणा-महावीर की अद्भुत देन है। जीव, नया भव धारण करने के पूर्व अपनी वर्तमान

भाव प्रवृत्तियों के अनुरूप भावावेश के समय "आयुष्य" का बंध करता है, केवल एक नवीन देह धारण करने के लिये। एक समय एक ही शरीर धारण करने योग्य "आयु" नाम की शक्ति एकत्रित की जा सकती है कभी एक से अधिक शरीर निर्माण करने के लिये (भव धारण करने के लिये) एक साथ "आयु" शक्ति का संचय जीव नहीं कर सकता (स्थूल का स्थायित्व सूक्ष्म के सन्मुख इतना ही अल्प एवं तुच्छ है—भाव कर्म जहाँ दीर्घ काल तक जीव की विकृति को टिकाये रखते हैं, वहाँ आयु आदि स्थूल द्रव्य कर्मों को स्थूल पौद्गलिक अपेक्षाकृत दृश्यमान स्कंधों की सहायता चाहिये, इन में आयुष्य सब से अधिक स्थूल है अतः इसका मात्र एक भव स्थायित्व अत्यंत युक्ति पूर्ण है।)।

आयु, जीव जड़ के अद्भुत संपर्क से उत्पन्न एक तृतीय परिणाम है जिसका दोनों पर परस्पर प्रभाव पड़ता है। जीव को शरीर विशेष धारण करने के लिये, आयु शक्ति का संचय करना पड़ता है तो जड़ को स्कंध, विशेष (प्रत्येक) में स्थित रखने के लिये "आयु" की आवश्यकता होती है। काल विशेष से अधिक कोई, स्कंध तद्‌रूप में स्थिर नहीं रह सकता—यह अटूट प्राकृतिक नियम है, अर्थात् प्रत्येक स्कंध का उत्कृष्ट कालमान निश्चित है। भले हो वह अपेक्षा विशेष में सुदीर्घ या अत्यल्प क्यों न हो अथवा संयोगानुसार समय की उत्कृष्ट अवधि तक तद्‌रूप में स्थिर न रहकर पहले ही भग्न क्यों न हो जाय—प्रकृति का नियम इससे बाधित नहीं होता। इसी तरह जीव "आयु शक्ति" का संचय केवल एक शरीर, भव या देह धारण करने के लिये कर

सकता है। उस देह में उसकी स्थिति का उत्कृष्ट काल उस शक्ति— संचय के अनुरूप स्थिर रहता है, उसके पूर्व, संयोगानुसार उस देह का नाश भी हो सकता है, पर किसी भी हालत में आयु शक्ति के उत्कृष्ट काल को अतिक्रम कर क्षण मात्र के लिये उस शरीर में जीव टिक नहीं सकता।

कितना युक्तिपूर्ण व प्राकृतिक नियम है यह। इसी एक साथ केवल एक भव धारण करने की योग्यता के नियम की आड़ में ही तो मानवकी समस्त सत्य, ज्ञान व मुक्ति की आकांक्षा फलीभूत हो सकने के बीजमन्त्र अंतर्निहित है। वासनासक्त होकर अधःपात के गभीर गह्वर में पड़ जाने पर भी पतन के प्रबल प्रवाह को जीव रोकने का अवसर पा सकता है तो इस आयु शक्तिके सिद्धांत के आसरे से ही। यदि एक साथ अनेक भवों का आयुष्य बंध सकता तो किसी भी जीव को छुटकारा पाने का मोका कभी आसानी से नहीं मिलता।

भव बंधन तो एक ही मोड़ के लिये है, अपनी वर्तमान कालिमा को धौत करने का प्रयत्न करते ही तो, दूसरी मोड़ अधः से उर्ध्व की ओर घुमायी जा सकती है। अतः एक ही मोड तक तो जीव पराधीन है, दूसरी के उपस्थित होते ही प्रत्येक बार उसे अवसर मिलता है कि अपने आपको वह अधः पात से रोक ले, और उत्थान की ओर अग्रसर हो। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में, पूर्वापर अनुमानादि शुभ अथवा शुद्ध भाव विवेक अन्य प्रवृत्तियों को विकसित होनेका सुअवसर नहीं मिलता, अतः इस अधः से उर्ध्व की गाथा को चरितार्थ करने की संभावना,

मानव देह को छोड़ और कहीं उपस्थित नहीं होती । अपेक्षाकृत अनुकूल संयोगादि पाकर अपेक्षाकृत उन्नत (मस्तिस्क विकास की दृष्टि से) देहधारियों में भी सामान्य विवेक जन्य दयादि प्रवृत्तियों का उदय हो सकता है, एवं तद् हेतु उनको भी उन्नति का अवसर मिलता है । पर सामान्य नियम तो यह है कि संयोग के घूर्णावृत्त से यदा कदा कहीं किसी को परित्राण भले ही मिलता हो, अन्यथा सभी तो उसके इङ्गित पर काल के सर्वव्यापी अंधकार में निरुद्देश्य असतर्क भाव से रसलोलुप एवं वासनाहत होकर न जाने कहां किधर बहे चले जारहे हैं ।

आयुष्य कर्म की सीमितता ने ही सचमुच वह सहारा दिया कि परित्राण पाने की सम्भावना सजग हो उठी । इस अतुल बलशाली काल की गरिमा का उल्लंघन करने की कौन कभी क्षमता रख सकता है ? कोई भी तो अपनी इहकाल जीवन परिधि से बाहर तनिक सा भी सत्य सहसा सामान्य तौर से दृष्टि प्रत्यक्ष नहीं कर पाता । रही विशेष तौर की बात, तो विशेष के उपाख्यान से सामान्य का कोई लाभ नहीं, जबतक कोई स्वयं विशेष न बन जाय । अज्ञान, अबोध, मोहादि के परिणाम स्वरूप उपस्थित होने वाली बाधाओं की संख्या अगणित राशियों में, चेतन पर लदी पड़ी हैं, एवं उनसे सहसा विमुक्त होने की परिकल्पना सफल अथवा गोचर नहीं हो सकती । किंतु आयु का मान तो अन्य कर्मों की तरह विशाल नहीं, सजग सतर्क होकर क्रमशः कुछ मोड़ तक भी जीवन की प्रवृत्तियों को ज्ञानानुगामिनी बनाने से आलोक का आविर्भाव हो सकता है एवं संयोग के अगणित चक्रों से छुटकारा पा भावों को

अपराश्रयी बनाया जा सकता है। यही तो बस उन्नति का यथार्थ स्वगत पथ है कि सत्य व ज्ञान, अभ्यासवश स्वाभाविक से बन जाय फिर तो मानव इन से अधिक सुन्दर, रम्य, आकर्षक या प्यार करने लायक अन्य किसीको नहीं मान सकता। वासनाओं के परिणाम स्वरूप आने वाले कालुष्य, पराश्रयता, उद्वेग, अस्थिरता, अनिश्चततादि विज्ञ मानव को उनसे विमुख रखने के लिये यथेष्ट हैं।

आयु शक्ति का जीव की किस २ अवस्थाओंमें क्या और कैसा स्वरूप रहता है यह पृथक विवेचन की वस्तु है, हम तो इतना ही इंगित कह आगे बढ़ते हैं कि इसी आयु व्यवस्था के कारण ही जिज्ञासु को भूत का सूत्र मिलता है एवं वर्तमान के आधार पर वह भविष्य को उज्वल बना सकता है; और तभी से प्रारम्भ होता है ज्ञान का उषाकाल। संक्षेप में इतना और कहना असंगत नहीं होगा कि मानवीय एवं अन्य प्राणियों की भाव वृत्तियों के जितने परिपूर्ण विभाग महावीर की कर्म व्यवस्था में मिलते हैं उनकी सहायता ले प्रत्येक कोटि के प्राणी की परिणाम धाराओं का वर्गीकरण किया जा सकता है ताकि अशुच्य—अनुपयुक्त करने का अवसर मिल सके।

महावीर की द्रव्य व्यवस्था में चेतन के उपरांत आवश्यक है जड़, जिसे जैन परिभाषा ने पुद्गल कह कर संबोधित किया है। जड़ की मूक शक्ति अपामेय है, सर्व व्याप्त है यह प्रत्येक स्थान में; एवं अपने अनंत रूप परिवर्तन द्वारा मानों निरंतर प्रवाह के वेग को सहस्रगुणा विशाल, व्यापक और शक्तिशाली बनाते हुए

भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। सचमुच चक्षु ग्राह्य होने के कारण प्रत्यक्ष को प्रमाण और प्रमाण को प्रत्यक्ष बनाने वाला एक द्रव्य है। यह चेतन का बाह्य स्वरूप व कार्य भी इसी के द्वारा अभिव्यक्त होता है। जड़ को क्षण मात्र के लिये इस व्योम से पृथक कर लिया जाय, तो सर्व शून्य हो जायगा। चेतन प्राण है तो जड़ काया है इस जगत् की। जड़ के निमित्त बिना चेतन को कोई अयुक्त भाव स्पर्श नहीं कर सकता, अतः भाव विकार के अभाव में चेतन को स्वतः निजत्त्व ही में लवलीन रहना पड़ता, और ऐसा मानने पर उसके सक्रियत्त्व या सचेतनत्त्व तक में सन्देह किया जा सकता। चेतन के ज्ञान का उद्देश्य ज्ञेय-भी यह जड़ है, क्योंकि इसी के साथ हिल मिल कर चेतन की क्रियाएं होती हैं, परिवर्तन होता है, तभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं का ज्ञेय कहा जाता है, अवकाश देने वाले तृतीय द्रव्य आकाश की परिकल्पना भी तभी सार्थक है, एवं सब कुछ को अंकित करने वाले काल का महत्त्व भी इसी संयोग से है।

चेतन व जड़ की अठखेलियां न हों तो काल किस की कहानी लिखे। अकेले चेतन या अकेले जड़ से परिपूर्णता नहीं होती। ये दो भाव पृथक हैं, इन्हें समझने के लिये दोनों को पृथक २ शक्तियां मान लेने की आवश्यकता है। आधुनिक अपरिपक्व बुद्धि काल्पनिकों ने ही जड़ की अन्त में चेतन रूप मानने के लिये अयुक्त अपरिपूर्ण तर्क उपस्थित किये हैं। चेतन चर्म चक्षु प्रत्यक्ष होता नहीं हो, नहीं हो सकता, बस इतने से ही अस्थिर हो वे चेतन का अस्तित्त्व मानने से भयभीत होते हैं। यहा प्रसङ्ग नहीं है कि

आधुनिक विज्ञान से तर्क वितर्क किया जाय, अन्यथा सुज्ञ को समझाने के लिये हमारे पास भारतीय विचारधाराओं से पर्याप्त बीज मन्त्र मिल सकते हैं।

चेतन प्रेरणा शक्ति है, जड़ प्रेरित शक्ति–कर्य शक्ति, दोनों के संयोग बिना कार्य की या परिणाम की या प्रत्यक्तत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दोनों का अपना २ अपरिमेय महत्व है, दोनों पृथक २ संख्यातीत होते हुए भी द्वैधारिक अटूट नियम की कड़ी में पिरोये हुए हैं। कोई चेतन चेतनत्व के प्राण नियम (अनुभव–बोध) का उल्लंघन नहीं कर सकता, इसी तरह कोई अणु भी जड़ परिवर्तन नियम (संश्लेषण विश्लेषण) को अभी अतिक्रम नहीं कर पाता। एक ही स्थान एक ही परिस्थति में मानों एक ही रूप द्वारा अभि–व्यक्ति पाते हुये भी चेतन व जड़ के द्विधा हैं, चेतन जड़ नहीं हो जाता जड़ कभी चेतन होता है। इनको एक मान लेना ही भ्राँति है, अविवेक है, अज्ञान है एवं तद्रूप व्यवहार करने पर ही अपने स्वरूप को खोकर भावमय चेतन दुख सुख के चक्र से मुक्त नहीं हो पाता।

जड़ और चेतन को एक ही महान् शक्ति की उपज कहना और भी भ्रमात्मक है। ईश्वर की साकर या निराकार व्यक्ति–कल्पना से प्रभावित विचार श्रेणी का समर्थन करने वाले महानुभावों के लिये इसके अतिरिक्त चारा ही क्या है, क्योंकि युक्ति का आश्रय उनके लिये संभव नहीं। जड़ जड़ है, चेतन चेतन, सूक्ष्म परिस्थतियों में दोनों के स्वरूप व कार्य का परिणाम इतना समान व सदृश होता है कि सहसा पृथक्करण करना बुद्धि की पहुँच से बाहर की बात हो

जाती है, इतने से जो सो मान लेने को उद्यत हो जाना कहां तक उचित है यह विचारणीय है।

प्रदेश–जीव या आकाश जड़ के सूक्ष्मतम विभाग परमाणु का "प्रदेश" के साथ सादृश्यत्व अत्यंत गहन मनोविचार की अपेक्षा रखता है जड़ के चार मूल गुण (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण) एवं पांचवां अत्यंत निकटवर्ती उत्तर गुण (शब्द) सदा सर्वदा के लिये विज्ञान का बीज मन्त्र बने रहेंगे यह निस्सन्देह है, एवं ज्यों २ यांत्रिक व वैद्युतिक शोध के परिणाम स्वरूप आलोक पथ (जड़ जगत के) के आविष्कारों की उपलब्धि सार्थक होती जायगी, मानव विचार गवेषणा के सन्मुख महावीर का यह सत्य सदा स्पष्टतया प्रतिभासित होता रहेगा। परमाणु अविभाज्य है, अत्यंत सूक्ष्म चक्षु अग्राह्य होने पर भी गति स्थितिकी अव्याबाध शक्तियों से परिपूर्ण है उसका क्षुद्र कक्ष। गति ही शक्ति का बीज मन्त्र है, जहां स्थिति उसके सौम्यत्त्व या उपयोग का स्वरूप स्थिर करती है, यह थी उनकी दृढ़ व्याख्या दोनों स्वभावों का समर्थन करने के लिये।

पृथक परमाणु किस प्रकार व क्यों दूसरे से संलग्न हो स्कंध बनता है–इसके बीज मन्त्र का दिग्दर्शन कराते हुये रुक्ष व स्निग्ध के अंतराल में रही हुई एकांश द्वितियांश की भेदरेखा के साथ जो वर्णन अपरिपूर्ण मात्रा में हमें उपलब्ध हुआ है, उसे ही देख कर महावीर के सत्य व ज्ञान की गहराई को यत्किंचित् मात्रा में मापने का अवसर मिलता है। परमाणु के चार मूल गुणों में कितनों का किस मात्रा में सर्वदा विद्यमान रहना अनिवार्य है,

यों प्रसङ्गवस उनमें हेर फेर होता है, द्वयणुक स्कन्धसे अनंताणुक स्कंध की उत्पत्ति का क्रम क्या है, स्कंध से स्कंध का संश्लेषण किन कारणों से सार्थक होता है एवं किन कारणों से वह संबंध कब तक अक्षुण्ण रहता है तथा क्रमशः अवधि समाप्त होने पर या संयोग प्राबल्य से क्यों वह संबंध छूट जाता है—आदि को लेकर जो विचार कण महावीर के साहित्य में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं उनको कोई मेधावी एकत्रित कर मनन करके का उद्यत हो तो जिस सत्य का उद्भाव सभव हो सकता है उसे स्पष्ट कर मानव को आश्चर्याभिभूत हो जाना पड़ेगा।

कृत्रिम व नैसर्गिक संयोग उत्पन्न हो सकते हैं व होते हैं, एवं स्कंध विशेष में आबद्ध परमाणुओं के कक्ष को भेद कर परमाणु या परमाणुओं को प्रथक कर सकते हैं और तदुपरांत नव निर्माण के लिये सुगमता हासकती है-यह सत्यभी अनुल्लिखित नहीं रहा है। तद्विषयक, विनष्ट प्राय जैन साहित्य में भग्न-मुक्त-माला की तरह, विज्ञान के विद्युत कण, अनावश्यक अनुपयोगी रूढ़िग्रसित व्यवहार साहित्य के घनीभूत अधकार से अच्छादित हो, न जाने कब किस काल में तिरोहित हो गये यह कोई नहीं कह सकता। प्रयोग साहित्य को किस की अपरिपक्व अदूरदर्शी मेधा से आहत हो विनष्ट हो जाना पड़ा—यहां इसका विवेचन करने का उपयुक्त समय नहीं है, पर जो कुछ अवशिष्ट है उसके सारभूत तत्वों को केवल पाश्चात्य विद्वान ही उपयोग में लासकें एवं हमारी बुद्धि उसको ग्राह्य करने में लड़खड़ाती रहे-यह अत्यंत दुख एवं लज्जा की बात है।

परिपूर्ण न होने पर भी हमें कहीं २ ये इंगित मिल सकते हैं कि चक्षुग्राह्य या अचक्षुग्राह्य, दृश्यमान या अदृश्यमान भिन्न २ स्कंधों के निर्माण के लिये भिन्न २ प्रणालियों में या संख्या में परमाणुओं के मिश्रण की आवश्यकता है। विशेष रीति से चक्षुग्राह्य अथवा स्पर्शग्राह्य अथवा रसग्राह्य आदि स्कंध बनाने के लिये विशेष संख्या में परमाणुओं को विशेष रीति से संश्लिष्ट करने की आवश्यकता है। जीव विशेष के शरीर धारण के लिये भी (कीट पतंगादि, पृथ्वी जल वायु आदि, पशु पक्षी आदि व मानव या मानवाकार प्राणी आदि) स्कंध विशेषों के संयोग की आवश्यकता है—यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि अनुकूल संयोग उपस्थित कर किसी भी शरीर का निर्माण नैसर्गिक या प्रयोगिक प्रचेष्टाओं से संभवित हो सकता है।

महावीर तो और भी अधिक गहरे उतरे और कह गये कि भिन्न२ कोटि के विचार या भाव,भिन्न२ कोटि के सूक्ष्म परमाणु स्कंधों पर प्रभाव डालते हैं एवं उनसे एक प्रकार के भाव स्कंधों कानिर्माण हो जाया करता है। जो व्योम में निराबोध होने वाले निरंतरके महापर्यटन में अपना भी अनिरुद्ध गति युक्त केवल मात्र भाव ग्राह्य स्थान अक्षुण रखते हैं। पराश्रयी भावों—क्रोध, मान, मोह,दुख,हास्य आदि से लेकर सर्व प्रकार के सूक्ष्म स्थल स्वप्रभावी या पर प्रभावी भावों (जो स्वतः पुद्गल प्रेरित होते हैं)—के व्यवहार तभी संभव हैं जब विशेष कोटि के स्कंधों की उपलब्धि सरल या संभव हो एवं वैसे उपयोगों के परिणाम के समय भी तद् प्रकार के नवीन स्कंधों की उत्पत्ति होती रहे।

भिन्न २ कोटि के स्थूलतर स्कंध सदृश या सूक्ष्म तर स्कंधों से आघात व्याघात पाते हैं किंतु सूक्ष्मतर स्कन्ध स्थूलतरों से बाधा नहीं पाते; घनीभूत स्कंध अघनीभूतों से विशेष चिरस्थायी होते हैं; अयुक्त या विपरीत धर्म वाले स्कंध को संयोगवशात् ग्रहण कर किसी स्कन्ध की काया की रक्षा नहीं हो सकती-आदि सर्व सामान्य तथ्यों से भरे हुए उल्लेखों से परिपूर्ण है महावीर का उपदेश।

आज का पाश्चात्य विज्ञान ऐसे भारतीय साहित्य के रहते हुए मानवता के लिये बारम्बार अनेक सत्यों के सर्व प्रथम आविष्कार का एक मात्र श्रेय लेने का जो हास्यास्पद उल्लेख करते नहीं लजाता उसे मनीषी भूल नहीं सकते। उनके वर्तमान महत् अनुसंधानों को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं किंतु यही तो विज्ञान का आदिकाल नहीं, इस पुण्य भूमि में न जाने किस पुरा काल में अनेक सत्यों का आविष्कार हो चुका था एवं इन सत्यों का व्यवहार में प्रयोग अज्ञात न था। जिस का जो महत्व है उसको अस्वीकार करना तथ्य की दृष्टि तें कितना बड़ा अपराध है यह सामान्य बुद्धि भी जानता है।

प्रयोग साहित्य के अभाव में अणु आदि विज्ञान सम्बन्धी विचारों का कोई महत्त्व नहीं—यह हमारे अर्द्ध शिक्षित भले ही मान बैठे हों पर पाश्चात्य विद्वान तो इसी तरह के अधूरे विवेचनों से पूर्ण साहित्य को ही चिंतन का आधार मानते व उससे ज्ञान की शोध में अग्रसर होने की प्रेरणा लेते हैं। सत्य सम्भावनाओं के मान चित्र का विचार प्रांगण में उपस्थित होना साधारण महत्त्व

की वस्तु नहीं है—इस इतने से रेखा चित्र के लिये तो शोधक या वैज्ञानिक आदि वारात्री मरते पचते रहते हैं। जहां परिणामों का भव्य उल्लेख उत्पन्न हुआ कि तद् क्षेत्र गमन का सम्पूर्ण सहारा मिला; आधा कार्य तो इस परिणामानुसंधान की धारा का आविष्कार करते ही पूर्ण हो जाया करता है। उद्देश्य की कार्य सिद्धि के पूर्व उपलब्धि ही मानव की सब से बड़ी आशा है और इसी के सहारे ही तो मानव मानव है तथा तभी सदा काल ज्ञान पथ पर अग्रसर हो सका है।

अतः प्रयोग साहित्य के अभाव में भी भारतीय संस्कृति के विचार साहित्य का मूल्य अमूल्य है, जिसका आधार ले अंधकार की पड़तें एक २ कर दूर करते हुए उत्साही मानव अंधकार में प्रकाश करता जा रहा है (पाश्चात्य मनीषियों ने इस साहित्य को दीपशिखा की उपमा दी है) ।

अणुओं के आकार संबंधी विवेचन भी गहन विचार की अपेक्षा रहते हैं एवं प्रसङ्गवश यह उल्लेख भी सार गर्भित है कि स्कंध विशेष में परिणत होने के उपरांत प्रत्येक अणु विशेषाकार धारण कर लेता है। स्थूलतर स्वरूपों के निर्माण के हेतु सादृश्य असादृश्य गुण, आकार व संख्या युक्त विशिष्ट कोटि के सूक्ष्म स्कन्ध उपादेय होते है, यह कथन (इस तरह के अनेक उपयोगी उल्लेख महावीर के साहित्य में भरे पड़े हैं) अत्यंत गहन विचार शक्ति के तुलनात्मक बोध की अभिव्यक्ति को प्रमाणित करता है।

अणु के सूक्ष्म मूल गुणों की अपक्षाकृत दूर प्रवेश से ग्रहण करना सम्भव है एवं ये सूक्ष्म गुण विद्युत लहरों की तरह

आकाश में चारों ओर प्रसारित होते रहते हैं। शब्द निमेष मात्र में आकाश में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है-यह प्रवचन जैन संस्कृति की अति प्राचीन थाती है। रूप भी नैपथ्य से ग्राह्य हो सकता है अर्थात् रूप निर्माण करने वाले तद्रूपी सूक्ष्म स्कंध भी आकाश प्रदेश में चारों ओर विस्तरित होते रहते हैं, इसी तरह घ्राण रस एवं स्पर्श के अणु भी इतस्ततः आवागमन करते हैं–ये यह तथ्य किसी पागल के प्रलाप नहीं बल्कि मनोधारा के अन्तर प्रकाश क्षेत्र में सतत् प्रतिबिंबित होने के उपरांत निश्चित किये हुये सत्य हैं। विचार–ज्ञान की आपेक्षिम पराकाष्टा तक पहुँचने वाले महानुभाव स्वानुभूति द्वारा इन सत्यों को प्रमाणित कर चुके हैं, तथा इन सत्यों की युक्ति परिपक्वता स्वतः प्रमाण है कि इनको निर्विवाद मान लेना चाहिये, पर हम अपनी ना समझी के कारण इन सत्यों का योग्य आदर नहीं करते। किंतु इन्हीं सत्यों को शोध पथ के उस पार उद्देश्य के सिंहासन पर विराजमान का पाश्चात्य वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि भारतीय ऋषियों की प्रयोग क्षेत्र में भी अत्यंत दूर तक पहुँच थी, गहरी परिपक्व व सारभूत होने के साथ २ वह पहुँच उपयोग सुलभ भी थी, अन्यथा केवल प्रयोग से सिद्ध हो सकने वाले सत्यों का इतना निःशङ्क, स्पष्ट व युक्त उल्लेख सम्भव नहीं हो सकता।

पुद्गल के कारनामों पर, जीव के साथ उसके सम्बंध के विषय में एवं उस सम्बंध की संख्यातीत धारणाओं के स्वरूप पर महावीर ने उदार चिन्ता से प्रकाश डाला था। वह साहित्य आज ज्यों का त्यों उपलब्ध होता और पुराकाल मेधावी उसे मान कर

व्यवहार को उदार बनाते तो आज की दुर्दशा इतने कुत्सित रूप में घटित नहीं होती। स्कंध, देश, प्रदेश व एक स्थानीय दो स्थानीयादि, एकाणुक, द्वयणुक से लेकर अनंताणुक स्कंधादि व विश्रसा सूक्ष्म-स्थूल निर्माण योग्य भिन्न वर्गणाओं आदि का उपलब्ध उल्लेख भी असाधारण है। इस अत्यन्त संक्षिप्त निवन्ध की परिधि में यथास्थान पूर्ण नामोल्लेख भी नहीं हो सकता; किंतु जिज्ञासु के लिये इस ओर प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

अवकाश स्वभावी आकाश को भी स्वतन्त्र द्रव्य माना महावीर ने। जड़ जीव की अठखेलियों के लिये स्थान तो चाहिये यही स्थान आकाश माना गया। अवकाश का गुण जीव या जड़ में जब नहीं है तो इस अत्यावश्यक गुण को धारण करने वाले द्रव्य को मानना यथार्थ व युक्ति पूर्ण है। अवकाश में ही पदार्थों (जीव जड़) की स्थिति है किन्तु पदार्थ के द्वारा अधिकृत किये जाने पर भी अवकाश का विलोप नहीं होता, एक ही स्थान में अपेक्षाकृत स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों की स्थिति निर्बाध रूप से हो सकती है।

स्थूल पदार्थों को एक दूसरे से बाधा पाते हुए हम निरंतर देखते हैं, क्योंकि स्थूल स्कंधों का ऐसा ही व्यवहार है; साथ २ विशेष चक्षु से यह अविदित नहीं रहता कि अपेक्षा कृत सूक्ष्म स्कन्ध अव्याबाध गति से स्थूल वस्तुओं को भेद कर निरंतर आवागमन करते रहते हैं। नियम यह है कि जो जिस को ग्रहण नहीं करता-जो जिसके योग्य नहीं-जिसके साथ जिसका समान धर्म नहीं, वह उससे बाधा नहीं पाता। यह तो बाधा लेने देने

पाने वाले जड़ की बात है, जहां भावात्मक चेतन के लिये तो यह भी घटित नही होता। चेतन चेतन को किसी भी रूप में बाधित नहीं करता। आकाश तो इन सबको एवं इनमें परिस्थितियों वश उदीयमान होने वाले समस्त परिवर्तनों को स्थान देता है। यह यह आकाश के अवकाश का विशेषत्व है।

सघन कठोर अभेद्य शिलाखंड आकाश के विशेष स्थान को अधिकृत किये हुए रहता है, वहां भी स्मूक्ष्म परमाणुओं का जल मध्य की तरह आवागमन होता रहता है, वहां जीवों का भी निर्बाध आवागमन है—अवकाश का ऐसा ही स्वभाव है।

सूक्ष्म स्थूल स्कंधों के आवागमन से अर्थात निर्माण ध्वंश से आकाश के छोटे बड़े स्थानों में कभी अपेक्षाकृत पूर्ति या कमी रिक्तता का जो व्यवहार ज्ञान गोचर होता है, उसी को देखकर यह कहा गया है कि आकाश में अवकाश को लेकर स्वरूपांतर घटित होता है। आकाश का निर्लिप्तत्व गुण अत्यत व्यापक है, किसी के लिये किसी अवस्था में बाधा नहीं होती—अपने ही सूक्ष्म स्थूलावयवों से बाधित हो सकते हैं पदार्थ, किन्तु आकाश द्वारा कहीं कोई रोक टोक नहीं होती।

आकाश का यह भासित होने वाला निश्चेष्ठ स्वरूप परोप-वर्ती द्रव्य द्रव्य के सहकार से अत्यन्त गूढ़ रहस्य युक्त हो जीव जड़ के आवागमन के सिद्धांत पर अपना गहरा प्रभाव डालने मे समर्थ होता है—यह हमें महावीर के उपदेशों से क्रमशः ज्ञात होता है। साहित्य में आकाश प्रदेशों की सुन्दर परिकल्पना वर्णित है, एवं उनके सूक्ष्मात्र सूक्ष्म विभागों का दिग्दर्शन

आकर्षक है; एक सूक्ष्म तम आकाश प्रदेश में अनेक द्रव्यों को एक साथ अवकाश देने की क्षमता का युक्ति पूर्ण उल्लेख अत्यंत मौलिक कोटि के विचारांशों में से है।

यों तो आकाश का प्रधान व्यवहार गुण निराबाधत्व ही है किंतु आकाश में अत्यन्त अद्भुत कोटिका अन्य गुण और है जिसे महावीर के अतिरिक्त और किसी मेधावी ने आज तक नहीं सोचा। यह है उसका बाधत्व–महावीर की व्यवस्था के अनुसार आकाश के दो विभाग हैं, एक वह जहां गति स्थिति का अनवरत प्रवाह उद्दाम वेग से जीव जड की प्रेरणाओं के कारण अतीत से अनागत की ओर काल का निर्माण करते हुये अग्रसर होरहा है, दूसराहै गंभीर शांत निर्लिप्त अभेद्य अखंड आकाश का अलोकत्व जहाँ किसीभी सूक्ष्म स्थूल जीव जड़ादि अवयवोंके लिये प्रवेशकरने की अनुमति नहीं होती, जहां गति स्थितिकी शक्तियोंकी महानता प्रचंडाग्नि के आक्रोश से स्पर्शित घृत पिंड की तरह विगलित हो शून्य में तिरोहित होजाती है। विकराल महाकाल का अननुमेय उद्दाम महाप्रवाह प्रवेशाधिकार से भी वंचित हो मानो निराशित प्रेमी की तरह महापेक्षा का व्रत ले, बिस्तीर्ण अनुलंघनीय प्रशांतोदधि के इहोपकूल पर ही विश्राम लेकर एकटक उस अभेद्याकाश की अनिर्वचनीय अज्ञात गहनता के सम्मुख नत मस्तक हो सदाकाल निश्चेष्ट पड़ा हो।

यह महाकाश सत्य के किस उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिये तत्वोल्लेख में स्थान पा सका है यह एकाग्र ध्यान द्वारा ज्ञान के प्रकाशपुंज का अवलोकन करने वाले मेधावियों से अविदित

नहीं रह सकता। गम्भीर मनन धारा का सम स्वरूपी होने के कारण लेखनी की परिमित शब्द राशि द्वारा इसे छूने का क्षुद्र प्रयास हम करना नहीं चाहते, फिर भी इतना कहना अनुचित नहीं होगा कि गति स्थिति शून्य इस निश्चेष्ट अभेद्याकाश की धारणा पर वैज्ञानिक अवश्य ध्यान देवें।

अपेक्षाकृत स्थूलावयवों को बहिर्भूत कर अनेक प्रकार के सूक्ष्म परिणामों की संभावना को आविष्कारक वैज्ञानिक सार्थक किया करते हैं, इससे आपेक्षिक गति शून्य आकाश को तो वे आंशिक रूप में समझ पाये हैं किंतु इससे आगे नहीं बढ़ सके हैं अब तक। आकाश का यह अद्भुत स्वरूप योंही हँसी में उड़ा देने लायक बात नहीं है बल्कि विचार व ज्ञान की नवीन धारा के लिये प्रशस्त मार्ग खोलने का काम करेगी यह धारणा।

काल की बात हम क्या कहें, इस काल के प्रवाह के कारण ही हमारा जीवन है, स्थिति है; और हमारा ही क्या समस्त चेतन, जड़ या अन्य परिकल्पनीय पदार्थों भावों का भी जीवन इसी काल धारा से प्लावित हो शक्ति लाभ करता है। महावीर ने काल को यथेष्ट महत्ता दी–निश्चेष्टता जीवन का अंत है, सचेष्टता–सक्रियता जीवन की गति–इसी सचेष्टता का बोध करने के हेतु उन्होंने इस सत्य को इन शब्दों में पिरोया:—सक्रियत्व का अर्थ है परिवर्तन—अग्रगति–अवस्था विशेषसे क्रमशः अग्रसर होने की स्वाभाविक, सांयोगिक अथवा प्रायत्निक क्रिया—यह क्रम स्वभाव है जड़ व जीव द्रव्यों का; अतः इस अग्रगति क्रम के रुकने का अर्थ है, स्वभाव का नाश, द्रव्य का नाश है। अतः द्रव्यत्व की स्थिति के

लिये, अस्तित्व के लिये इस निराबाध क्रम का प्रवाह अनिवार्य है और इसी प्रवाह का नाम काल है।

काल के सत्य स्वरूप का यों दिग्दर्शन करा विज्ञानोपयोग के लिये उसकी परिभाषा करते हुए महावीर बोले "परम अणु (आज के एलेक्ट्रोन, प्रोटोन या डेट्रोन का समकक्षी पर हमारी राय में इससे भी सूक्ष्म) आकाश का एक प्रदेश अधिकृत कर स्थित है। प्रेरणा या जब वह परमाणु उस आकाश प्रदेश से निकटवर्ती शंलग्न द्वितीय प्रदेश में गमन करता है, तो जितने क्षुद्र तम क्षणांश की आवश्यकता होती है उसे—काल का "समय" कहते हैं"। "समय" जैन सिद्धांत का पारिभाषिक शब्द बन गया है। व्यावहारिक जीवन के निरंतर उपयोग में आने वाले "क्षण" में ऐसे समयों की संख्या अपरिकल्पनीय है। कुछ थोड़े से विभागों का सुन्दर क्रम हमें साहित्य में मिलता है।

सचमुच क्षण की क्षुद्र परिधि में भी "समय" की गणना संख्यातीत है। आध वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में सूक्ष्म यंत्रों के आविष्कार के सहारे क्षण के लक्ष दश लक्ष तक विभाग किये जा चुके हैं एवं आशान्वित वैज्ञानिक यह मानते हैं कि "क्षण" के क्षुद्र तम अंश का कहां जा कर पता चलेगा यह कह सकना बुद्धि से परे है।

इसी, समय के दुरभेद्य कक्ष को भेद कर ज्यों २ मानव मेधा सूक्ष्मतम प्रदेशों में अग्रसर होती जा रही है, पदार्थों के परिवर्तन तथा उनके कारण व परिमाणों का रहस्य उसके हस्तगत होता चला आ रहा है। समय ज्ञान के कारण ही तो समस्त यंत्र विद्युतादि

आविष्कारों की सफलता सार्थक हो सकी है एवं ज्यों २ मनुष्य आगे कूच करता है, प्रकृति पर उसका अधिकार बढ़ता चला जा रहा है। आज तक अन्य दर्शन जैन के समय विभाग को उपहास व उपेक्षाकी दृष्टि से देखते आये हैं, किंतु उनकी यह धारणा अदूरदर्शिता पूर्ण है। महावीर के संकेतानुसार ज्ञान विज्ञान के लिये सूक्ष्म समय विभागों का प्रयोग न करने के कारण भारतीय संस्कृति के उन्नति पथ को रुद्ध हो जाना पड़ा वह किसी विज्ञ से तनिक सा विचार करने पर अविदित नहीं रह सकता।

काल का व्यवहार में आने वाला रूप भिन्न २ अपेक्षाओं के कारण भिन्न २ है। मनुष्य के लिये उपयोगी गणना "क्षण" है तो पार्वत्तीय खंड के स्वाभाविक निर्माण या ध्वशं के लिये कुछ अन्य गणना की आवश्यकता है और यह अन्य क्षण मनुष्य के युगों अथवा शताब्दियों तक को अपने घेरे में बाँध सकता है। किस स्कंध के नैसर्गिक निर्माण अथव ध्वशं के लिये काल को किस अपेक्षा का प्रयोग होता है—इसी का बोध हो जाय तो मानव उस निर्माण को प्रयत्न साध्य करने में सफल हो सकता है। यह भी बुद्धिगम्य है कि संयोगानुसार स्कंध विशेष के निर्माण के लिये आवश्यक समय को कम या अधिक किया जा सकता है।

समय के आधार पर सूक्ष्म माप-क्रिया का क्रम स्थिर है एवं सूक्ष्म माप यन्त्रों का आविष्कार, दूसरे शब्दों में, समय के विभाग द्वारा सिद्ध होता है। स्कंधों का संश्लेषण, तद्रूप में स्थायित्त्व व क्रमशः विसर्जन काल के ही खेल हैं। भिन्न २ स्कंधों के संयोग सम्पादन की क्रिया काल के यथार्थानुमान पर

निर्भर है एवं उनका कियत् काल तक स्थायित्व है यह बोध होने पर निर्माण व ध्वंश से उत्पन्न होने वाले वैसादृश्य से मनोभावों को विमुक्त अथवा परे रखने में सहायता मिल सकती है। चेतन की पराश्रयता इस काल के बोध के साथ तिरोभूत होती चली जाती है। मोह, अज्ञान, अस्थिरता काल की अभिज्ञता के परिणाम हैं तथा ज्यों २ जिस पदार्थ के काल का आवरण अनवगुण्ठित होता है, मनोभावों का ताटस्थ्य स्थिर हो चित्त को विश्राम देता हुआ उस २ पदार्थ के स्वरूप की विलक्षणता को सुस्पष्ट कर देता है, परिणामतः चेतन उन्मुक्त हो अपनी स्वाभाविक आलोकमयी ज्ञानधारा को दिग्दिगंत व्यापी काल-प्रवाह के साथ सयुक्त कर सत्य व शांत को स्वतंत्र आत्म सुलभ व चिरस्थायी बनाने में समर्थ होता है।

भिन्न २ पदार्थों पर पड़ने वाले काल के प्रभावों का जो कुछ उल्लेख इस नष्ट-प्राय साहित्य से प्राप्त हुआ है। आज के विज्ञान के साथ उसके सारत्व की तुलना कर हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। अनभिज्ञों के हस्तक्षेप से व्यवहारिक विषयों में कुछ अटपटी बातें मिश्रित होगयी हैं एवं उन्हें देखकर सामान्यबुद्धि सत्य को सहसा खोज निकालने में समर्थ नहीं होते, पर इतने से उस तत्वोल्लेख की महत्ता कम नहीं हो जाती।

जड़, जीव या आकाशादि द्रव्यों पर काल प्रभाव के कारण जो परिवर्तन घटित होते हैं उनको लेकर ही तो इस जगत् की स्थिति है। समय मात्र के लिये यदि हम सोचें कि काल का प्रवाह रुक जाय, तो किस द्रव्य को अवस्थित रखने में कोई

भी सिद्धांत कैसे समर्थ हो सकता है? यही ही प्रवाह सब कुछ का जीवन है। पदार्थ में संयोगजन्य उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का क्रम निरन्तर बाधाहीन गति से, भूत से वर्तमान बनता हुआ भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। यही प्रवाह ही सत्य है यही उत्पाद ध्रौव्य व्यय है—भावी की उत्पत्ति, वर्तमान की स्थिरता एवं भूत का व्यतिक्रम, फिर भी वस्तु के नैसर्गिक मूल स्वरूप का इन तीनों परिस्थितियों में अटूट भाव से अवस्थितत्व ही तो सत्य के चरम स्वर मंत्र हैं।

काल, द्रव्य को इन तीनों परिस्थितियों से ढोता हुआ सदा से अग्रसर हो रहा है; काल रुकता नहीं, द्रव्य नष्ट होता नहीं—काल रुक जाय द्रव्य भी मर जाय। इससे सुन्दर स्पष्ट सत्य का उल्लेख और क्या हो सकता है? काल की आदि नहीं अतः द्रव्य की आदि नहीं, काल का अंत नहीं होता तो द्रव्य को भस्मसात् करने में कौन समर्थ हो सकता है? जो कुछ आविर्भाव व तिरोभाव दिखाई देता है वह द्रव्यों का आपस में संयोगजन्य पड़ने वाला प्रभाव है, जो कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में महा इतिवृत्त लिखने में दत्तचित्त है और इसी को हम काल कृत कहा करते हैं।

प्रायत्निक संयोग उत्पन्न कर, स्वाभाविक रूप से काल विशेष तक स्थिर रहने वाले सूक्ष्माणु स्कंध को छिन्न भिन्न किया जाय तो महान शक्ति उत्पन्न होती है एवं जिसका उपयोग व्यावहारिक ध्वंश अथवा निर्माण के लिये किया जा सकता है—यह आज कतिपय अंशों में मानव बुद्धि गम्य हुआ है। यह भी काल ज्ञान

का परिणाम है। केवल जड़ाणु से निपटने से यह सत्य उपलब्ध नहीं हुआ है – काल समस्त निर्माण का कारण है अतः ध्वंश का भी ? काल ज्ञान द्वारा निर्माण व ध्वंश दोनों का सामर्थ्य उपलब्ध होता है।

आज भारतीय सन्त-योगी परम्परा विध्वस्त होचुकी है। जो कतिपय मूर्तियां अज्ञात के कक्ष में रही आज भी विशेष शक्ति को धारण किये हुये हैं वे इस बात का आवश्यकता पड़ने पर प्रमाण दे सकती हैं कि काल बोध के उपरांत मात्र विचार माध्यम के उपयोग से किसी भी पदार्थ के निर्माण व ध्वंश की लीला को क्षणांश मात्र में घटाया जा सकता है।

महावीर की मेधा नहीं रुकी, आगे बढ़ते हुये उसने यह व्यवस्था क्रम बताया कि भूत का व भविष्य का कोई ओर छोर नहीं, पर वर्तमान हमारे सामने सुस्पष्ट है– यही वर्तमान प्रत्यक्ष सत्य है। वास्तव प्रत्यक्ष होने के कारण (क्योंकि भूत तो अविद्यमान होचुका और भविष्य अभी विद्यमान बना नहीं है) यही उपयोगी है एवं तात्विक दृष्टि से यह सचमुच एक समय मात्र का होता है, द्वितीय समय में तो सब कुछ बदल जाता है–काल न जाने कितनों का कितना और कैसा परिवर्तन कर देता है; (इसमें कुछ व्यक्त कुछ अव्यक्त भी हो सकते हैं)। कितने पदार्थ (वास्तव में सब पदार्थ) दूसरे समय में भूत का निर्माण व भविष्य का नाश करते हुये वर्तमान पर आ खड़े होते हैं। व्यवहार में भले ही किसी के लिये संख्यातीत समयों का समूह – क्षण सत्य हो, किसी के लिये प्रहर, किसी के लिये वर्ष व शताब्दियां तो किसी के लिये न जाने

और कोई बड़ी गणना सत्य हो, पर तत्त्व की दृष्टि में तो वह क्षुद्रतम समय ही सत्य है इसके अतिरिक्त अन्य सब संयोगजन्य पदार्थों के संयोगजन्य जीवन मरण के व्यवहार मात्र हैं।

काल तत्त्व की महावीर दृष्टि अपरिमेय महिमा का विस्तृत उल्लेख करने का यहां सुयोग नहीं है अतः हमें तो आगे बढ़ना ही है पर विज्ञों से हमारा अनुरोध है कि इस तत्त्व के अन्तर्गत रहे हुये सत्य को अपनायें ताकि मानव अज्ञानता के पट खुलते चले जांय।

धर्म व अधर्म तत्त्व की एक साथ ही संक्षिप्त पर्यायालोचना करना उपयुक्त है। जैन दार्शनिक संस्कृति ने विचार सिद्धांत को यह बड़ी भारी देन दी है – किसी अन्य दार्शनिक पद्धति ने प्राकृतिक शक्तियों में गति व स्थिति नामक तद्‌गुण बोधक किसी स्वतंत्र द्रव्य धारा की आवश्यकता को नहीं सोचा। क्रियाशील पदार्थों की गति को सार्थक बनाने के लिये गति माध्यम की अपेक्षा है। मीन की गति के लिये जिस प्रकार जल सहायक है उसी तरह पदार्थों व द्रव्यों के आकाश में इतस्ततः भ्रमणादि के लिये सहायक मध्यम की अपेक्षा होनी ही चाहिये अर्थात पदार्थों के स्थानांतर गमन में सहायक माध्यम शक्ति अपेक्षितहै। आधुनिक विज्ञानके पूर्वकालीन आचार्यगण "इथर" नामक गति सहायक माध्यम की अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं; यद्यपि इन चालीस वर्षों में कुछ विचारक यह भी मानने लगे हैं कि गति को पदार्थ का स्वभाव मान लेने से कार्य चल जायगा अतः पृथक शक्ति मानने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। महावीर ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व इस विषय पर मानों गंभीर गवेषण कर यह स्थिर कर दिया कि गति

सहायक स्वतन्त्र शक्ति विद्यमान है। द्रव्य की गति अपने आप में ही तो नहीं होती वह आकाश में भी गमन करता है और आकाश स्वभावतः प्रयत्नानुपेक्षी होने के कारण किसी को स्वतः सहायता या बाधा नहीं देता अतः आकाश में इधर उधर जाने के लिये पदार्थों को ढोने वाले किसी माध्यम को स्वीकार करना जरूरी है।

स्कंध विशेष के परिमाण, उसको मिलने वाली संयोगजन्य प्रेरणा व आकाश में विद्यमान सानुकूल अथवा अननुकूल परिस्थितियों के अनुरूप गति माध्यम गमन या हलन चलन में सहायक होता है। काल तत्व के सम्यग् बोध से इस "गति" के समयादि का क्रम निश्चित रूप में अनुमेय हो सकता है एवं मानव, बुद्धि प्रयोग द्वारा भिन्न २ पदार्थों की गति में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है वह गति माध्यम स्वतः निष्क्रिय है अर्थात् स्वतः कोई स्वतन्त्र परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता, पर उसका सहारा पाकर ही गमन या भ्रमण संभव है।

गति—यों देखा जाय तो चेतन व जड़ द्रव्यों का ही स्वाभाविक अथवा प्रेरणा जन्य परिणाम है अतः गति के मूल कारण वास्तव में ये ही दो द्रव्य हो सकते हैं, पर केवल उपादान कारण से तो कार्य की सिद्धि नहीं होती—निमित्त भी चाहिये और गति में निमित्त रूप है यह धर्म द्रव्य। पदार्थ की कारण जन्य योग्यतानुसार "धर्म" नियत स्थान गमन में सहायक होता है। "धर्म" में शक्ति है कि वह द्रव्यों को (जीव–जड़) प्रेरणा शक्ति अथवा अणु समुच्चयानुसार आकाश के भिन्न २ प्रदेशों में गति करने

दे अर्थात् इस "धर्म" द्रव्य का जीव जड़ पर स्व २ शक्ति के अनुरूप दबाव पड़ता है, एवं उसी के अनुसार नियत से आकाश क्षेत्र में गति हो सकती है।

कहीं भी तनिक सा भी विशिष्ट संयोग पाकर पदार्थ स्वयोग् क्षेत्र से विस्तृत में गति करने का प्रयत्न करता है तो, प्रथम तो गति होती ही नहीं, अनुकूल दबाव के अभाव में गति हो भी गयी तो, पदार्थ खण्ड २ होकर बिखर जाता है, — जड़ का ऐसा स्वभाव ही है और ऐसी परिस्थिति में जीव को तद् शरीर का त्याग करना पड़ता है। अतः गति सूचक "धर्म" का दबाव प्रत्येक आकाश क्षेत्रमें पदार्थ की स्वशक्ति के अनुसार रहता है और तद्रूप गति होती है यह मानना युक्ति संगत है। गति धर्म के दबाव का ज्ञान होने से मानव अपनी इच्छानुसार पदार्थों का निर्माणकर उनको आकाश में इतः स्ततः गति युक्त कर सकता है क्योंकि सूक्ष्म व अपेक्षाकृत स्थूल परिस्दंनावाले पदार्थ इस "धर्म" माध्यम की सहायता पाकर स्थान की दूरी की अवगणना कर आश्चर्याभिभूत करने वाली तेजी से आकाश के महाकक्ष को भेद गति करने लगते हैं। विद्युत सूक्ष्म ध्वनि, प्रकाश आदि की आपेक्षिक गति के संबंध में विज्ञान को जो सत्य यंत्र सुलभ हो सके हैं उनके प्रयोग को देखकर उनकी गति का अनुमान लगाया जा सकता है; और यह संभव हुआ है वास्तव में इसी गति ज्ञान के बोध से। वैज्ञानिक तनिक सा इस मूल तत्व पर ओर ध्यान दें तो अनेक

अन्य वस्तुओं (स्कंधों) की सूक्ष्म स्थूल गति के कारण व परिणाम का ज्ञान सुलभ हो सकता है ।

गति का नियामक द्रव्य चाहिये ही, अन्यथा इस अवकाश स्वभावी आकाश में स्कंध पर कोई नियंत्रण न होगा और पदार्थ आपस में टकरा कर अव्यवस्था कर देंगे । इसी तरह अद्यावधि अनुनुमित "स्थिति" सूचक अधर्म तत्व की सार भूत विचारणा भी महावीर ने ही की ।

इस जगत् में हमें जो कुछ भी नियमित रूप से स्थिति दिखायी देती है इसमें भी कोई न कोई कारण चाहिये—वे बोले । प्रत्येक पदार्थ अपेक्षा से गतिशील है पर अपनी सीमा में जो उसकी गति संभव है—अपनी सीमा का जो वह उल्लंघन नहीं करता, यह क्यों ? स्व सीमा में यह स्थिति क्या है क्यों है ? ये दो प्रश्न महावीर की विचारधारा को मानों घेर कर खड़े हो गये । उन्होंने निर्णय किया कि गतिपूर्वक यह जा स्थिति है उसका नियामक पदार्थ भी होना ही चाहिये । नियामक कोई तत्व न हो तो समय की तरह अव्याबाध गति युक्त हो जाने पर इस जगत् का कोई नियत स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता यहीं इस स्थिति तत्व का उद्घाटन हुआ कि स्थिति सहायक कोई शक्ति चाहिये ।

यह जो नियत रूप से पदार्थों का इतस्ततः गमन होता एवं जो अपेक्षाकृत नियमित रूप से वास्तव में जो स्थिति यह स्वतः एक शक्ति प्रेरणांतर्गत है । प्रत्येक पदार्थ की गति

अपेक्षा से स्थिति है, तभी तो उदय अस्त की अटूट धारा निरन्तर पदार्थों को जीवन धारण कराने में सहायक है।

स्थिति, गति पूर्वक होती है (उसी तरह गति स्थिति पूर्वक) गति का अंत करके नहीं। क्रियाशीलत्व अर्थात् गतिशीलत्व मूल दो द्रव्यों का स्वभाव है। इस गतिशीलता में जो स्थिति है-संयोगानुसार भिन्न २ रूप में परिणत होकर पदार्थ की जो क्रिया शीलता के साथ तद् रूप में काल विशेष के लिये स्थिति है वह स्थिति नियामक अधर्म द्रव्य की सहायता से।

पृथ्वी निरंतर अपनी परिधि में सूर्य के चारों ओर गतिशील है—यह गति ही इस भूमंडल का जीवन है। क्षण मात्र के लिये भी इस महागति को रुकना पड़े तो प्रलय हो जाय-समस्त चल अचल प्राणियों अथवा पौद्गलिक पदार्थों को श्वास निरुद्ध होने पर छटपटा कर प्राण विसर्जन करने वाले जीव की तरह विलय हो जाना पड़े। इस गति की इतनी जीवनदायिनी अनिवार्यता के साथ २, आकाशमण्डल की नियत परिधि में पृथ्वी की जो सीमाबद्ध अवस्थिति है वह क्या गति से भी (जीवन धारण करने के लिये) अधिक अपेक्षित नहीं?

गति के रुद्ध हो जाने पर तो क्रमशः व्यवस्थिति का विच्छेद होगा पर "स्थिति" सीमा का उल्लंघन करदे तो, भीषण विस्फोट के आघात से प्रताड़ित पदार्थ के अवयवों की तरह समस्त वस्तुओं को क्षण मात्र में बिखर जाना पड़े।

पृथ्वी अपने आकाश मण्डल में स्थित है, यह पृथ्वी ही क्या, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि अन्य पृथ्वियां, वायु समुद्रादि

अन्य वस्तुऐं भी अपनी २ परिधि में गति पूर्वक स्थित है। सामान्य "कण" भी कण रूप मे थित है--उसमें भी अणु परमाणुओं का आवागमन निरन्तर होता रहता है इसलिये वह स्थिति भी गति युक्त है।

प्रत्येक स्कंध की स्थिति इस स्थिति सहायक अधर्म शक्ति (तत्व) की सहायता या सहानुभूति से सार्थक है अन्यथा (स्थति शक्ति के अभाव में) अनियमित गति को रोकने का अन्य कोई उपाय नहीं रहता। नियमितता का पोषक यह अधर्म तत्व अत्यंत आवश्यक सिद्धांत शैली का निर्माण करने में समर्थ हुआ

स्थिति नियामक शक्ति की धारणा यों सत्य बन कर जैन संस्कृति के तत्व कोष को आज भी सजीवित किये हुए है-अभी इस सत्य की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। युरोपीय वैज्ञानिकों को स्थिति सहायक शक्ति मानने की युक्ति को किसी रूप में स्थिर करने का अवकाश नहीं मिला है (क्योंकि गति ध्वंश के लिये गति शोध में ही अधिकांश समय का उपभोग दिया है पाश्चात्यों ने) किंतु भारतीय वाङ्मय में स्थान २ पर हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो स्थिति शक्ति के सार्थक विशिष्ट उपयोग के बिना किसी प्रकार संभव नहीं हो सकते।

हमारे पुरातन इतिवृत्त में, जिसे चाहे आज के इतिहासज्ञ अधूरी शोध के कारण पूर्णतया प्रमाणित करने में समर्थ या उद्यत भी न होते हों, सारगर्भित वाक्यों में जब इन विषयों का

वर्णन मिलता है तो हमें सचमुच एक साथ आश्चर्य व संतोष हुए बिना नहीं रहता। आज के विज्ञान की सफलता के कारण जब हम बहुत सी अन्य अविश्वसनीय सी घटनाओं को (जो हमारे साहित्य में वर्णित हैं) सत्य मानने के लिये बाध्य हो सकते हैं तो सामान्य तर्क से ही अन्य युक्ति पूर्ण उल्लेखों को सत्य मानना स्खलित विचार धारा का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

युद्ध में शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करते समय जहां गति की विशेष प्रेरणाओं का हमें स्पष्टोल्लेख मिलता है वहां उनके अद्भुत परिणामों को पढ़कर आश्चर्याभिभूत होना पड़ता है कि क्या इतनी सूक्ष्म कोटि के अन्तर मर्म भेदी गति प्रयोग संभव थे ? प्रयोग साहित्य के अभाव में एवं हमारी यांत्रिक कृतियों के विनष्ट हो जाने के कारण पाश्चात्य विद्या विशारदों के शङ्कित हृदय को हम प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निरुत्तर नहीं कर सकते किंतु इससे उन प्राचीन प्राप्तियों के गौरवमय सिद्धांत साहित्य को यों सहज में असत्य कल्पित या निराधार मानने को भी हम उतारू होना नहीं चाहते।

यदि हमारे साहित्य में कोई सारभूत तत्व नहीं है तो क्यों उसे ले जाकर अनुवाद द्वारा यत् किंचित् अर्थ समझ कर युरोपीय वैज्ञानिक अपने शोध क्षेत्र को विस्तृत करने की निरंतर प्रेरणाएं लिया करते हैं ? क्यों पाश्चात्य में मरी हुई संस्कृत भाषा को व विशेष कर संस्कृत के विज्ञान साहित्य के अध्ययन को शोधकों के लिये अनिवार्य माना जाता है ?

आग्नेयास्त्र वारुणास्त्र पाशुपातास्त्र आदि अनगिनत अद्भुत ध्वंशकारी विशिष्ट शक्ति प्रेरित युद्धोपकरणों का प्रयोग, विचार व कौशल की कितनी बड़ी पहुँच का परिणाम है यह उस वर्णन को युक्त मानते ही अविदित नहीं रहता। आज के आधुनिक आग्नेयास्त्र अणवास्त्रके साथ हम पुरातन यंत्र मंत्र प्रेरित अस्त्रास्त्रों की स्थिर चित्त हो तुलना करने बैठें तो पुरातन नूतन के प्रयोग में अंततः कोई विशेष असामंजस्य दिखायी नहीं देगा।

अस्त्र प्रयोग के समय जब हम पढ़ते हैं कि न जाने किस विचार व कौशल की सूक्ष्म या स्थूल यांत्रिक या वैद्युतिक प्रेरणा द्वारा प्रताड़ित अस्त्र की गति को जहां का तहां रुद्ध कर दिया गया, तो हमें सहसा यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि गति रोधक यह "स्थिति" शक्ति क्या है ? फेंके हुए अस्त्र का अन्यास्त्र फेंक कर रोध किया जा सकता है पर यह कल्पना अत्यन्त नवीन व अद्भुत है कि गतिशील अस्त्र को तदनुरूप बिना स्थूल सम्पर्क के गतिहीन कर विनष्ट करना भी सम्भव है। गति को स्थित करना कैसे व क्यों सम्भव है ? गति निरोधक शक्ति क्या सचमुच एक पृथक शक्ति है ? या गति के अभाव को ही स्थिति कहकर ये छुटकारा पा लेने में सार है – ये प्रश्न आज बड़ा महत्त्व रखते हैं।

जब गति के भिन्न २ प्रयोग करने का कौशल प्रयत्न साध्य हो चुका है एवं उसके विध्वंशकारी या निर्माण सहायक परिणाम उत्पन्न करने में हम समर्थ होरहे हैं तो इस प्रश्न को विशेष अवकाश है कि निर्माण को " स्थित " रखने का श्रेय हम विशिष्ट गति के

अभाव को ही दें अथवा स्थिति नामक सहायक शक्ति को स्वीकार करें।

महावीर की यह मौलिक सूझ असाधारण है इसको गति की तरह आधुनिक यांत्रिक प्रयोग के लिये प्रयत्न साध्य कर लेने पर अद्भुत सम्भावनाओं का विस्तृत क्षेत्र मानव बुद्धि प्रमोद के लिये उन्मुक्त हो जायगा। आधुनिकतम विज्ञान की शोध अणु के निर्माण सद्धांत का निर्णय करते हुये यह मानने को बाध्य होती जा रही है कि अणु के परमाणुओं को एक साथ संलग्न या संश्लिष्ट रखने की कोई आधारभूत नई शक्ति प्रेरणा होनी ही चाहिये। इस ओर इन लोगों की सूझ अभीतक मेसोन (Mason) नामक नवाविष्कृत अण्वांश तक पहुंची है, जिसे वैज्ञानिक यह श्रेय देने को तत्पर हुए हैं कि यही मेसोन नामक अण्वांश-महावीर के चरम परमाणु से आकार में बहुत बड़ा ही शायद व्यवहारोपयोगी अणुओं के electron, proton, neutron, detron आदि अंशों को एक साथ आवद्ध करने या रखने में समर्थ है। इस विवेचना से यह परिणाम तो निकाला जा सक्ता है कि अण्वांशों को एक सूत्र में (रूप विशेष या आकार विशेष में) आवद्ध, संलग्न या संश्लिष्ट रखने में कोई सहायक तत्त्व चाहिये ही। भले ही वह तत्त्व अणु की ही कोई शक्ति हो अथवा कोई पृथक सत्ता हो। तद् विषयक विचार प्रेरणा के अभाव में अर्थात् स्थिति नियामक शक्ति की मान्यता के अभाव में उपलब्ध तत्त्वों को उक्त प्राकृतिक कार्यों के सम्पादन का श्रेय देना आंशिक युक्तिपूर्ण है ही।

महावीर यहीं पर अड़े थे और उन्होंने कहा था कि स्थिति, पृथक

है तत्व है उसका कार्य अन्य किसी तत्व द्वारा सम्पादित नहीं होता। उस स्थिति सहायक तत्व को अधर्म कह कर उन्होंने तत्व क्षेत्र में नई प्रेरणा को आश्रय दिया किन्तु दुर्भाग्य है कि सामान्य उल्लेख मात्र के, अन्य कोई विस्तृत विवरण इस बारे में हमें नहीं मिलता। सामान्य बुद्धिगम्य न होने से किसी ज्ञान धारणा की उपेक्षा हमें शोभा नहीं देता। वैज्ञानकों व विचारकों को भारतीय संस्कृति की इस अद्भुत देन का समुचित आदर करना चाहिये, यह हमारा सानुनय अनुरोध है।

षड्-द्रव्य की जैन रूपरेखा यों ही टालने की वस्तु नहीं है। परिष्कृत युक्ति का सहारा ले जैन दर्शन उसी भाव को द्रव्य मानने को तैयार हुआ है जिसे अनिवार्य कहे विना सत्य व व्यवहार की स्थापना नहीं हो सकती। तुलनात्मक मनन से यह निभ्रांत निर्णय हो सकना अस्वाभाविक नहीं है कि मूल शक्तियों की इससे सुन्दर स्पष्ट व्याख्या आज तक तो नहीं की गई। जीव व जड़ वास्तव में आवश्यक द्रव्य है जगत् के समस्त दृश्य व अदृश्य रूप के निर्माण के लिये अन्यथा जगत् का अस्तित्त्व नहीं रहता। अवकाश देने वाले आकाश को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानना पड़ता है। समस्त जीव जड़ की निरंतर प्रवाहित अव्याबाध जीवन धारा को प्रमाणित करने के लिये परिवर्तन स्वभावी-परिवर्तन वो गिनने वाले-काल को माना ही जायगा। अब रही दो शक्तियां "गति व स्थिति", गति तो प्रत्यक्ष है एवं आधुनिक विज्ञान द्वारा उसका वैशिष्ट्य किसी हद तक मानव की पहुँच के दायरे में आचुका है और स्थिति सब की जीवन धारणा व नियमतता के लिये अपेक्षित है अन्यथा

विशिष्ट रूप में विशिष्ट नियत नियमानुसार पदार्थों का स्थायित्व व व्यवहार संभव नहीं हो सकता ।

इन सब द्रव्यों में अस्खलित अटूट भावधारा के हेतु एक मात्र जीव में ही भाव शक्ति का संचरण है, रूप रस गंध स्पर्श आकाश काल गति स्थिति किसी में अनुभव करने की शक्ति नहीं है, अतः कोई भाव युक्त नहीं कहा जा सकता । जीव ही भावना प्रवाही शक्ति के कारण सुख दुख का अनुभव करता है ।

अतः यही जीव कभी कर्ता, कभी भोक्ता, कभी नियंता बनाता है, जगत् के स्वरूप को कभी किसी परिस्थिति में, तो कभी किसी संयोग में, जड़ के साथ मिल कर बनाता है बिगाड़ता है और त्रयी के अटूट नियम का मानों पालन करता हुआ भाव प्रवाह व काल प्रवाह के अनिवार्य सीमाहीन क्रम के साथ अग्रसर होता चला जाता है । जीव को पुरुषार्थ संभव अत्यंत व्यापक शक्तियों से संपन्न माना है महावीर ने; किसी का बंधन उसे नहीं होता, सिवाय अपनी भावनाओं के वह किसी के दबाव से दबता नहीं। भावनाऐं ही झुक कर जड़ाश्रित हो उसकी शक्तियों को सर्वतोमुखी विकाश से रोक सकती हैं; उन भावनाओं को विचार शक्ति (भाव शक्ति) के सदुपयोग द्वारा उन्मुक्त कर चेतन सर्व शक्तिमान व सब कुछ का नियंता बन सकता है । महावीर की यह सिद्धांत व्यवस्था अत्यंत सुन्दर युक्ति से परिपूर्ण है ।

महावीर ने इसी युक्ति का आश्रय ले यह स्थिर किया कि गति व स्थिति सहायक २ शक्तियों को पृथक २ तत्त्व मानने की

आवश्यकता है, जिनके सहारे जीव व जड़ को इस संसार का स्वरूप गढ़ने बिगाड़ने अथवा बनाये रखने में सुविधा व सहायता मिले। गति स्थिति को इन दोनों पदार्थों का स्वभाव मानकर व्यवहार की रचना करने का श्रेय देने की अपेक्षा गति स्थिति को पृथक द्रव्य स्वीकार करने की पद्धति अत्यंत मौलिक व युक्ति पूर्ण है।

आज विज्ञान प्रत्येक व्यवहार्य अणु के निर्माण स्थायित्व ध्वंशादि के लिये Negative Positive नामक दो पृथक शक्ति संपन्न Elestions, Protons, detrons. Nevtrons, Positrons, आदि की हयाती को मानता है। यह विचारने का विषय है कि इन शक्तियों की मूल धारणा धर्म अ धर्म नामक तत्वों में चिर स्थिर या स्थित कही जा सकती है या नहीं। आज की परिभाषाओं में भले ही अक्षरशः न मिलने के कारण इस देश की प्राचीन दार्शनिक व वैज्ञानिक धारणाओं से अनभिज्ञ वैज्ञानिक उन प्राचीन तत्वोपदेशों को 'स्वीकृत न कर पाते हों या उन उल्लेखों से आज की मान्यता का सामंजस्य स्थापित करने में उनकी मेधा लड़खड़ती या हिचाकिचाती हो पर मनन करने वाले मनीषि से यह सत्य तिरोहित नहीं रह सकता कि प्रेरणा अथवा सहायता प्रदान करने वाली शक्तियों को पृथक तत्व मानने की धारणा असाधारण बुद्धि विकाश का परिचायक है।

यद्यपि उपरोक्त तुलना द्वारा धर्म अधर्म को Negative and positive charges के साथ मिलाने का प्रयास हम नहीं कर

रहे हैं : फिर भी हमारा यह कथन अनर्गल प्रलाप नहीं है कि शक्ति के द्वैत स्वरूप की यह धारणा आज के विज्ञान की नयी शोध नहीं है। भारतीय संस्कृति की इस जैन शाखा ने सहस्रों वर्ष पूर्व इस द्वैत भाव को स्थिर कर लिया था।

वास्तव में धर्म अधर्म तो दो आधारभूत शक्तियां हैं और Nagative positive charges अणु के विशेष कार्य सम्पादनत्व मात्र की कथा कहते है। विज्ञान के समक्ष जब गति की तरह स्थिति का प्रश्न भी मूल शक्ति के स्वरूप में आयगा : तो इस विषय के जैन विवेचन से उसको बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

षड़ द्रव्यों की इस तरह स्थापना कर महावीर आगे बढ़े एवं उन्होंने इन सब द्रव्यों के प्राण स्वरूप जीव के उन्नति अवनति या विकाश ह्रास या बन्धन मुक्ति के नाम पर जा अमूल्य उपदेश दिया है वह उसी सत्यान्वेषी युक्तिके सहारे स्थित होने के कारण अजोड़ है

अवनति या उन्नति का क्या क्रम है, किस कारण से भावनाओं में कालुष्य आता है व किससे रुकता हैं अथवा किस से चला जाता है, आदि प्रश्नावलियाँ मानों वृत्ताकार हो उस परम मेधावी के अटूट ज्ञान कोष के सन्मुख याचना करने लगीं। उत्तुङ्ग विशाल पार्वतीय श्रेणी से क्रमशः विगलित होती हुई अतुल हिमराशि, जिस प्रकार सहस्रों धाराओं में प्रस्रवित हो महानद का निर्माण करती हुई, समतल भूमि पर अस्खलित गति से अग्रसर हो, समस्त क्षेत्र विक्षेत्रों को प्लावित करती हुई

सर्वत्र आनन्द की सौम्य शोभा जिस तरह प्रसारित करने में समर्थ होती है। महावीर की अगाध ज्ञान मेधा भी उसी तरह सत्य का विवेकपूर्ण विवेचन करने की ओर बढ़ती चली। ज्यों २ तत्कालीन जिज्ञासुओं की तात्त्विक प्रश्नमाला उनके सन्मुख उपस्थित होने लगी, वे समस्याओं को—उलझनों को सुलझाते गये और उनके तात्त्विक सिद्धांत का निर्माण होता गया।

जीव की अन्तर भावनाओं के स्वरूप को यथावत् समझने समझाने के लिये लेश्याओं का वर्णन किया। उन्होंने भावनाओं के विकृत या क्रमशः सुस्थिर होने वाले स्वरूप का बोध करने के लिये लेश्या विचार प्रणाली बड़ी अनमोल व तु है।

क्रमशः अशुद्धतर भाव किस प्रकार विशुद्ध होते हैं एवं इच्छा आकांक्षा या वासना किस तरह परिवर्तित हो जीव को युक्त अथवा अयुक्त परिस्थितियों की ओर ले जाती है व उस समय जीव का अन्तर व बाह्य व्यवहार कैसा रहता है यह लेश्या द्वारा दर्पण के प्रतिबिंब की तरह, सहज ग्राह्य हो जाता है। लेश्या साहित्य अद्भुत है और इसे मनोभावों का माप यन्त्र कहा जा सकता है।

दार्शनिक परिभाषाओं में इसका कोई विशेष स्थान न होते हुए भी तत्त्व विवेचन में इसका महत्व अकिंचित्कर नहीं है। कृष्ण से क्रमशः शुक्ल होती हुई मनोवृत्तियों का उत्थान पतन, उत्कर्ष विकर्ष कैसे होता है, यह समझने के लिये एवं तदनुसार सम्हल कर अपनी उर्ध्वगामी प्रगति को अक्षुण्ण रखने के लिये मानव इस लेश्या प्रवचनसे अत्यंत उपयोगी सुझाव लेसकता है।

महावीर द्वारा उपदिष्ट जीव की लाक्षणिक परिभाषा अतीव सुन्दर है – वे बोले – "जिस में उपयोग (शक्ति) हो वह जीव कहा जा सकता है"। लाख सिर पटकने पर भी विरोधी इस "उपयोग" को जीवातिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में खोज कर न पा सके। यही "उपयोग" जीव का भाव लक्षण है – जो अन्य द्रव्यों में नहीं होता।

आपेक्षिक क्रियाशील द्वितीय द्रव्य जड़ में संश्लेषण विश्लेषण द्वारा अनेक बार ऐसी चेष्टाएं दिखायी पड़ती हैं, जो मानों निर्भाव क्रिया से कुछ विशेष कोटि की हों, किंतु (वास्तव में) जड़ द्रव्य में कहीं चेतन का "अनुभव" नहीं पाया जाता–अतः उपयोग का नितांत अभाव रहता है।

प्रेरणा पाने पर जड़, जीव की सी क्रियाऐं करता है और जीव जड़ के साथ व्यवहार में मिलकर समस्त सृष्टि की रचना भी करता है; फिर भी ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं एवं जड़ में कभी उपयोग शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता यह सत्य निभ्रांत है। आकाश,काल,धर्म, अधर्म द्रव्य स्वतः या परतः क्रियाशील न होने के कारण उपयोग शक्ति से वंचित हों तो यह स्वाभाविक ही है।

"उपयोग" जीव के मन का निर्माण करता है, सुख दुख का अनुभव, इष्टानिष्ट का भाव सूक्ष्मतम देहधारी जीवों में भी होता है यह कथन, महावीर आज की यंत्र परिक्षा के सहस्रों वर्ष पूर्व कह गये थे और महावीर, ही क्या भारतीय संस्कृति के अन्य निर्माताओं ने भी मुक्त कंठ से इस सिद्धांत को स्वीकार किया है।

पर उपयोग शब्द द्वारा सर्व सुन्दर स्पष्टग्राह्य सिद्धांत पद्धति का बोध कराने वाले महावीर ही थे।

वास्तव में चेतन व जड़ में यहीं पार्थक्य है–जड़ इस उपयोग को कभी कहीं नहीं पा सका है। युक्तयाश्रयी विज्ञान के सन्मुख भारतीय दर्शनों का यही उद्‌घोष है कि चेतन व जड़ को एक मान कर अथवा जड़ को सूक्ष्म स्थिति में चेतन स्वरूप "शक्ति" का अंश मानकर वे जो भाव–अनुभव–उपयोगादि चेतन गुणों का सर्वथा निराकरण करने का उद्यत हैं, यह उचित नहीं, किन्तु यह धारणा तद्‌विषयक अल्प बोध के कारण भ्रांतिपूर्ण है।

पाश्चात्य धर्मों की धारणा में कभी विचार की सूक्ष्म बातें आयी ही न थीं यह उनके सामान्य कोटि के प्रवचनों से ही स्पष्ट हो जाता है। सामान्य कोटि की नैतिक धाराओं के अतिरिक्त उनके धार्मिक साहित्य में और कोई बुद्धि विकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः उनको न तो कोई बात समझानी है न कुछ सुनना है – वे चेतन व जड़ की परिभाषाओं को भी नहीं समझते।

पर, विज्ञान से हमारा सानुनय अनुरोध है कि भौतिक विकास के साथ साथ भाव विकास के क्षेत्र में भी पदार्पण करें तथा भावानुसंधानों से उपलब्ध होने वाली अद्‌भुत, अनोखी, अविनश्वर सी विभूतियों को भी इस काल के लिये मानव सुलभ बनालें। भारतीय भाव-वैज्ञानिकों ने यह कार्य अपने समय में विशिष्टता के साथ सम्पादित किया था, यह प्रमाणित है। आज जिनका समय है वे भौतिक निर्माण या ध्वंश तक ही विकास क्रम

को सीमित न रखें वल्कि भाव क्षेत्र में भी आगे बढ़ें, यह मानवता का और विशेष कर भारतीयों का संकेत है।

जैन न्याय स्वतः कितना परिपूर्ण है यह तो उसका अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त करने वालों को ही विदित हो सकता है पर प्रसङ्ग वश यहां इतना कहना अनुचित नहीं, कि युक्ति व सत्य का आश्रय लेने में यहां भी जैन ऋषियों ने मानों सब से होड लगाई है। जैन नयों का वर्णन व विवेचन व उनकी परिभाषाओं की शैली कितनी तल स्पर्शी है यह नैयायिकों से अविदित नहीं है। न्याय की व्याख्या या व्यवस्था करते समय जैन मेधावियों ने कभी ज्ञान व सत्य से द्वेष व ईर्षा नहीं की बल्कि अन्य विचारकों व सिद्धांतों के सत्योल्लेखों को यथावत् यथास्थान स्वीकार किया। सत्य को स्वीकार करने की यही विशेषता जैन के समन्वय सिद्धांत का प्रधान कारण है।

जैन नयों का प्रयोग कर सामाजिक व्यवहार, बौद्धिक ज्ञान व भौतिक अथवा भावात्मक वैज्ञानिक शोध में अग्रगति की जा सकती है, यह विज्ञो से अविदित नहीं है।

सांख्य, बौद्ध आदि अन्य न्याय व्यवस्थाओं के सन्मुख जैन न्याय का मस्तक गर्वके साथ ऊँचा उठ सकता है एवं अनेकांशों में तो युक्ति प्रखरता के कारण सब को पीछे छोड कर उत्तुंग शिखर की भाँति अत्यन्त उन्नत व विशाल हो वह सत्य के मर्म को भेद करने में समर्थ हो सका है। नैगम संग्रहादि अनेक भेदों से पूर्ण अत्यन्त व्यवहारोपयोगी इस न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवरण करने का अवकाश यहां नहीं हैं पर इस न्याय व्यवस्था को भौतिक,

व भावात्मक (आध्यात्मिक) शोध के लिये प्रयोग में लाना चाहिये-इतना अनुरोध मात्र कर हम विराम लेते हैं।

"निक्षेप" जैन सिद्धांत का अद्‌भुत रत्न है। नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव-परिक्षा के समान, किसी भी पदार्थ को अथवा उसके गुण पर्याय-नैसर्गिक व व्यवहारिक रूप को समझने धारण करने व स्पष्ट करने में और कोई अन्य प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

निक्षेप समस्त ज्ञान की मानो कुञ्जी है। इसके द्वारा पदार्थ के याथार्थ्य को सम्यग् उपलब्ध किया जा सकता है। किसी अन्य सिद्धांत ने इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं सोची। पदार्थ का नाम, उसका बाह्य रूप उसके द्रव्यत्त्व की प्रामाणिकता एवं उसके गुण का स्वभाव-स्वरूप इन चार बातों के दायरे से परे कुछ नहीं रह जाता (पदार्थ में) एक भी प्रश्न का उत्तर यदि ना में मिलता है तो पदार्थ के अस्तित्व में शङ्का की जा सकती है।

क्या वैज्ञानिक निर्णयों अथवा आध्यात्मिक तत्त्वों या सामान्य व्यवहारोपयोगी धारणाओं-सभी के लिये तो यह "निक्षेप" परिक्षा मन्त्र है। निक्षेप के वैशिष्ट्य व उपयोग की ओर किसी का आवश्यक ध्यान नहीं गया है। पुराकाल में अन्य दर्शनों को तो जैन दर्शन की कटु आलोचना करने ही से विराम नहीं मिलता था, अतः वे जैन दर्शन के गुणों से परिचित होने का अवकास कैसे पाते किंतु दुख है कि आज भी इस द्रव्य परिक्षा के मन्त्र से यहां के वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक अनभिज्ञ हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों की तरह इस तरह के बीज मंत्रों का व्यवहार में प्रयोग कर शोधानुसंधानादि द्वारा ज्ञान के क्षेत्र को यहाँ के मानव के लिये भी उपयोगी बनाना चाहिये-यह यों ही उडा देने की बात नहीं है।

प्रमाण व नय से ज्ञान होता है – कितना गूढ़ बीज मन्त्र है यह, और कितना स्पष्ट उल्लेख। प्रमाण की परिभाषा करते हुये किसी जैन ऋषि का यह अमोघ वाक्य "भ्रमभिन्नंतु-ज्ञानमालोच्यते प्रमा" इस जगत के ज्ञान विज्ञान के साथ सदा जीवित रहेगा।

ज्ञान को स्थायी अविसम्वादी, निभ्रांत, स्पष्ट, उपयोगी एवं उपकारी बनाने के लिये ज्ञान के साधनों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर है इस सिद्धान्त में। किसी ऋषि ने दो सहस्र वर्ष पूर्व कहा–"निर्देष, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति व विधान तथा सत्, संख्या; क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व द्वारा ज्ञान की स्पष्टता व उपयोगिता झलक उठती है और मानव अपने अतीत के मोह एवं भ्रम भरे आवरण से उन्मुक्त हो अनागत को आलोक मय कर सकता है।"

ज्ञान को सौम्य व सार्थक बनाने के लिये इन प्रणालियों का क्या महत्त्व है, यह विचारक स्वयं समझ सकते हैं। क्या इस तरह की सूक्ष्म पद्धति किसी भी अन्य साहित्य में कहीं देखने में आई? क्या हम इन विशिष्ठ विवरणों से कोई लाभ नहीं उठा सकते? क्या ये सब बातें किसी मुग्ध के अनर्गल प्रलाप की तरह यों ही विस्मृत किये जाने योग्य हैं? क्या किसी को भी इन में सार नहीं दिखाई देता? प्रत्येक भारतीय के सामने मानवता निर्निमेष दृष्टि से देख रही है कि वह इन मन्त्रों को निरुद्देश्य व अनुपयुक्त रख कर यों ही नष्ट होने देता है या इनका उपयोग कर ज्ञान के क्षेत्र को विकसित करता है।

भारतीय, सहस्रों वर्षों का उपेक्षा काल बिता चुका और उसे भरपूर सजा मिल चुकी। अब भी क्या उसी अनिश्चित, अस्थिर व भ्रांत पथ का अनुगमन करने की साध नहीं गयी, अब और कौनसी नारकीय यन्त्रणा बाकी रह गयी है ?

जैन ज्ञान व्यवस्था बड़ी विशिष्ट कोटि की है—मति-श्रुति अवधि मनः पर्याय की वैज्ञानिक रीति से व्याख्या की जाय तो उसकी गहराई निखर उठती है। प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष मूल भेद में सब कुछ आ जाता है, एवं नैमित्तिक अथवा सांयोगिक पराश्रयी ज्ञान को परोक्ष की कोटि में रखने की विधि अत्यन्त उच्च कोटि के मनन का परिणाम है।

अन्य दार्शनिक व्यवस्थाओं ने प्रत्यक्ष परोक्ष का विभाग करते समय कई बार भूलें की हैं, तभी तो परिणाम स्वरूप किसी परावलम्बी बोध को कभी प्रत्यक्ष कह दिया गया है ? तो दृष्टि परोक्ष को परोक्ष ज्ञान कह बैठे हैं कोई। किंतु जैन ज्ञान धारणा कभी चर्म चक्षु पर निर्भर नहीं रही, उसने तो अंतर भावों पर भेद को आश्रित किया, तभी उसकी सी ज्ञान विवेचन की निर्मलता किसी अन्य सिद्धांत में नहीं पायी जाती।

मति के इन्द्रिय अनिद्रिंय के उपरांत अवग्रह इहा, अवाय व धारणा एवं इनके भी अति सूक्ष्म अवांतर भेदों का मनन करने से कितना गहरा बोध सुगम्य हो उठता है। अर्थात् मति द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान के सैकड़ों भेद तो यही हो गये, यदि इनका वर्गीकरण कर व्यवहार में इनका प्रयोग किया जाय तो मानव बुद्धि कितनी प्रखर होसकती है यह अगोचर नहीं रहता।

अर्थ का स्वरूप व व्यंजन द्वारा होने वाला अवग्रह सचमुच विचार के तलस्पर्शी सिद्धांत हैं। मन को जैन परिभाषा में "नोइन्द्रिय" कहा गया है। इन्द्रियों से परे होने पर भी मन आत्मा का विशिष्ट शक्ति सम्पन्न बाह्य प्रवृत्तियों के लिये सर्व प्रधान माध्यम-साधन है।

श्रुतज्ञान को मति पूर्वक माना है जैनों ने। रूपवान पदार्थों (सूक्ष्म व स्थूल जड़) को ग्रहण करने वाले विशिष्ट ज्ञान अवधि की व्यवस्था अनोखी वस्तु है। साधारणतः अन्य सिद्धान्त व्यवस्थाओं में रूपवान पदार्थों को ग्रहण करने के लिये अधिकांश, चक्षु को ही माध्यम माना गया है, पर जैन संस्कृति यहां रुकी नहीं उसका सदा यही कहना रहा कि नेत्रों की पहुंच अत्यल्प है। नेत्र बाह्य साधन मात्र हैं, आज हैं कल नहीं एवं आड़ में रहे हुये पदार्थ का ज्ञान उससे होता नहीं, अतः प्रत्यक्ष या परोक्ष में रहे हुये रूपवान पदार्थ को ग्रहण करने के लिये अन्तर विचार से सम्बन्ध रखने वाला कोई अन्य सूक्ष्म मार्ग होना ही चाहिये।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मनोभावों द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्रमशः सूक्ष्मतम अणुस्कंध ग्राह्य होते हैं। स्थूल इंद्रियोंपयोगी अणुओं की अपेक्षा सूक्ष्माणु स्कंध विशेष शक्ति सम्पन्न होते हैं व निर्माण ध्वंश के कार्य कारणों का रहस्य इन्हीं में छिपा रहता है। इन्हीं सूक्ष्मअणु परमाणु स्कंधों को जो स्थूल स्कंधों (दृश्यमान-चक्षुग्राह्य व्यवहार्थ पदार्थों) के निर्माण के कारण स्वरूप हैं,

ग्रहण करने वाले अन्तर विचाराश्रयी ज्ञान को अवधि की संज्ञा दी गयी है, जैन परिभाषा में।

यद्यपि आधुनिक विज्ञान की सूक्ष्म अणु स्कंधों को यंत्रों द्वारा ग्रहण करने की पद्धति अवधि बोध का द्योतक नहीं कही जा सकती, फिर भी चक्षु से परे के सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करने की क्रिया ऐन्द्रिक-प्रणाली से भिन्न है एवं अन्तर विचार स्तर से प्राप्त होने वाले किसी अनोखे बोध का परिचय देती है इसे अमान्य नहीं कर सकता कोई।

हम इतना तो दावे के साथ कह सकते हैं कि रूपवान सूक्ष्म तत्त्वों का बोध करने की पद्धति सामान्य इंद्रिय या तद् विषयक मनोग्राह्य बोध से कुछ परे की वस्तु है- यह निर्णय हमसे अज्ञात् न था। अवधि बोध द्वारा कार्यकारी होने वाले अनेक अद्भुत कारनामों के वर्णन हमें कथा साहित्य में मिलते हैं। जिनको, आज हम हमारे प्रयोगशालाओं के अभाव में, यद्यपि प्रत्यक्ष तथा प्रमाणित करने में समर्थ नहीं होते, तो भी उनके महत्त्व को यों ही भुला देने या खो देने को जी तत्पर नहीं होता।

विचार अंतर मन की क्रिया है। जैन सिद्धांत यह स्थिर कर चुका है कि पराश्रित मन की प्रत्येक क्रिया से स्पदन पैदा होते हैं, एवं उन स्पंदनों द्वारा तद्योग्य सूक्ष्म अणु-परमाणुओं का ग्रहण सार्थक होता है। अणु परमाणु पौद्गलिक हैं अतः रूपवान हैं, यह ध्यान में रखने योग्य बात है यहां। प्रत्येक जीव मन द्वारा (इंद्रियों द्वारा भी) अनंत सूक्ष्म अणु-

परमाणुओं का निरन्तर ग्रहण व त्याग करता रहता है, पर विचार परिष्कृति या विचार स्वातन्त्रय के अभाव में वह इस ग्रहण-त्याग की क्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण, उसके द्वारा होने वाले आन्तर परिवर्तन को समझ नहीं पाता व केवल स्थूल व्यवहार के पाश में फँसा रहकर इन्द्रिय ग्राह्य अवयवों के आदान प्रदान में ही व्यस्त व मस्त रहता है।

विचार शोध की सहायता से यह सूक्ष्म आवागमन बोध-सुलभ हो सकता है-यही बोध है जैन परिभाषा में उल्लखित अवधि। इसी विचार शोध का यांत्रिक संस्करण कर मानव सूक्ष्म अणुस्कंधों को ग्रहण करने में समर्थ होने वाली वस्तुओं का निर्माण करे तो अवधि-सुलभ बोध के समान परिणामों की आशा की जा सकती है-कुछ सूक्ष्म यन्त्रों के आविष्कार से आज यह प्रमाणित भी होगया है।

गहरे विचार से देखा जाय तो यह सिद्ध होता है कि यन्त्र सम्भव प्रयोग अथवा क्रियायें मति श्रुति का ही विषय है पर साथ २ यह भी मानना पड़ता है कि विचार की अन्तर विकसित धारा को, जिसके प्रवाह को अवधि कहा गया है, प्रमाणित करने वाली सूक्ष्म यन्त्र क्रियायें मति श्रुति से कुछ परे की है।

अवधि को प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखा गया है। प्रत्यक्ष का सम्बन्ध उस बोध से है जो आत्मा-चेतन जीव की अपनी प्रेरणा से उत्पन्न हो, जिसकी उपलब्धि में पर पदार्थ कारण न हो। हालांकि पर की सर्वथा अनपेक्षा से उत्पन्न ज्ञान की श्रेणी और आगे की वस्तु है पर उसके पूर्व की तन्निकट व्यवस्थिति का

द्योतक है अवधि। अवधि इस दृष्टि–कोण से अत्यल्पपराश्रय की अपेक्षा रखता है अतः उसके साथ आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं का सर्वथा सामञ्जस्य स्वीकार करने को हम उद्यत होना नहीं चाहते लेकिन यह भी अस्वीकार करते नहीं बनता कि अनेक सूक्ष्म वैज्ञानिक उपलब्धियां मति श्रुति से कहीं अधिक दूर की हैं।

जैन सिद्धांत हमें यहां भी सहायता करता है एवं उसका एक अन्य विभाग जो अवधि का समकक्ष है, परिभाषा से अछूता नहीं रहा, उसे कहा गया विभंग। अवधि की उससे हर बात में समानता सी है, भेद है तो केवल दिशा का एक भाव शुद्धि का परिचायक है तो दूसरा व्यवहारोपयोगी प्रयोगादि संभव प्रक्रिया शुद्धि का बोध कराता है । अवधि पथिक आत्म स्वातंत्र्य का अनुशरण करता है तो विभंगान्वेषी सूक्ष्म शक्तियों का अन्वेषक हो अपरिमेय परिवर्तन उत्पन्न करने की ओर बढ़ता है ।

इसी यंत्र संभव ? यंत्र क्रिया में परिणत करने लायक विभंग की कई चेष्टाओं का आधुनिक सूक्ष्म वैद्युतिक यंत्रों के साथ संतुलन किया जा सकता है। राडर का आविष्कार क्षेत्रावधि की संभावना सूचित करता है तो टेलीवीज़न रूपवान पदार्थों के दूरात् ग्रहण को सार्थक करता है। इस तरह अन्य सूक्ष्म अणु परमाणुओं के यांत्रिक ग्रहण द्वारा जो रूपवान पदार्थों में परिवर्तन किये जाते हैं वे विभंग ज्ञान के यंत्र प्रयोग का परिणाम कहे जा सकते हैं। जैन ऋषियों द्वारा वर्णित ज्ञान की यह सूक्ष्म प्रक्रिया आज के वैज्ञानिक बोध के बीज मन्त्र के समान है, तथा उसकी पहुंच अत्यन्त व्यापक मानी गयी है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनोभावनाओं से आकाश क्षेत्र में स्पंदन पैदा होते हैं। इन स्पंदनों से (जो वस्तुतः पुद्गलों में होते हैं) आत्मा अनेक प्रकार के, भावी क्रिया के अनुरूप सूक्ष्म अणु परमाणु स्कंधों को ग्रहण करता है इस ग्रहण से जो परिणाम अणु स्कंधों पर पड़ते हैं एवं व्यवहार में जो परिवर्तन होते हैं वे तो हुए अवधि का विषय, पर मनोभावों में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है क्योंकि मन अवधि के पहुँच से परे की वस्तु है।

मनोभावनाऐं जड़ के समान, रूप धारण नहीं करतीं—उनका स्वरूप विशिष्ट कोटि का होता है। मनोभावनाऐं सूक्ष्मतम चिंतन क्रिया की जननी हैं। चिंतन क्रिया के पूर्व मनःप्रांगण में अति सूक्ष्म स्पंदनों का प्रादुर्भाव होता है। व्यवहारोपयोगी चिंतन व इस अंतर चिंतन में बहुत भेद है।

अंतर चिंतन के पूर्व मनोभावों में होने वाले स्पंदन विशिष्ट प्रकार का आकार धारण करते हैं, वस्तुतः यह आकार चक्षुग्राह्य आकार के सदृश नहीं होता। यह आकार मनोगत भावों का अनुशरण करने वाली वाह्य प्रवृत्तियों का पूर्व रूप है। चेतन के अत्यंत सन्निकट रहने वाला यह मनोभावों का स्पंदन व उनका आकार ? यथार्थ बोध के लिये विशेष शुद्ध परिणति की अपेक्षा रखते हैं। जैन सिद्धांत ने इस तरह के बोध की विशिष्ट प्रक्रिया को मनः पर्याय ज्ञान कहा है। इस ज्ञान का विषय जितना सूक्ष्म है उतना ही मनोमुग्धकारी है।

ज्ञान की परिभाषा करते समय किया गया विस्तृत विवेचन अत्यंत आकर्षक है एवं बुद्धि प्रागल्भ्य की प्रगाढ़ उन्नति का

परिचायक है । इस विवेचन से मानसिक शक्तियों के विकास की शिक्षा ग्रहण कर प्रगति की जा सकती है तथा ज्ञान पथ पर और भी द्रुतगति से चला जा सकता है। भौतिक विज्ञान की उन्नति में विकास के ये साधन सहायक हो सकते हैं साथ २ इनके उपयोग से आध्यात्मिक या भाव विज्ञान के प्रसार द्वारा मानव उछृंखलताओं पर प्रतिबंध लगा सकता है।

स्याद्वाद जैन सिद्धांत का मुख्य स्तंभ है। इस को समझने के लिये की गयी सप्तभंगी की रचना ज्ञान विकास का ही परिणाम है। वस्तु एक धर्मात्मक ही न होकर अनेक धर्मात्माक है। एक ही समय में भिन्न २ दृष्टिकोण से भिन्न २ धर्मों का अस्तित्व प्रधान अथवा गौण रूप वस्तु में से विद्यमान रहता है। एक पदार्थ किसी रूप से अथवा अपेक्षा से अस्तित्व वाची है तो दूसरी अपेक्षा से वह नहीं भी है. पदार्थ के धर्म वक्तव्य भी होते है, नहीं भी होते हैं, – इन चार धारणाओं को कहीं आपस में मिला कर तो कहीं बाद देकर सप्तभंगी की रचना हुई है। हमारे देश की संस्कृति का यह परम मंत्र आज योंही पुस्तकों की पक्तियों में ही आवृत्त पड़ा है।

व्यवहार व ज्ञान के विकास के लिये इसका किस प्रकार प्रयोग करें यह हमें विदित नहीं। इसीलिये पाश्चात्य शिक्षा प्रेमी हमें कहा करते हैं कि भारतीय तत्वज्ञान का अधिकांश प्रकृत व्यवहार के लिये अनुपयुक्त है। यह भ्रांति तभी दूर हो सकती है जब मेधावी इन ज्ञान बीजों को उपयुक्त मानसिक क्षेत्रों में बो कर उत्तम फल उपजाने का प्रयत्न करें एवं भावी संतति को इसका आस्वादन

करा उनको भी इस ओर आकर्षित करें ताकि समस्त मानव समाज हमारे विकास की सौम्यता से लाभ उठा सके।

हम कई बार कह चुके हैं कि जैन संस्कृति की वाटिका में पल्लवित ज्ञान पुष्पों की संख्या इतनी अधिक है कि एक २ के रूप गुण का वर्णन करने के लिये पृथक २ ग्रंथ की आवश्यकता है, हम तो इस संकुचित परिधि में उल्लेख मात्र कर सकते हैं— वह भी इने गिने हमारी दृष्टि से उपयोगी रत्नों मात्र का।

हम तो आज जैनियों का अपेक्षा जैनेतरों से प्रार्थना करते हैं कि वे इस ज्ञान कुंज के सौरभ को जहां का तहां पड़े २ शुष्क न हो जाने दें, बल्कि स्निग्ध मंथर वायु के प्रवाह को इस ओर आकर्षित कर समस्त मानव गगन को इस परिमल के प्रसार द्वारा परिव्याप्त करदें ताकि भारतीयता का वैशिष्ट्य पुनः जाग उठे एवं मानव से मानव का पारस्परिक द्वेष व तद् जन्य कालुष्य लुप्त हो सब के जीवन को सुखी व सौम्य बना दे।

जैनानुयायियों की अकर्मण्यता एव रूढ़िग्रस्त गाढ़ निद्रा को देख मुझे यह आशा नहीं कि वे कुछ कर धर सकेंगे। निकट भविष्य में उनकी मूर्छा दूर होती नहीं दिखायी देती, उन्हें तो अभी सामान्य श्रेणी के मुग्ध सुलभ उपाख्यानों व प्रलापों से अवकाश नहीं मिलता वे कहां से सत्य व तत्व के विशिष्टान्वेष की ओर दृष्टिपात करें।

पर आज स्वातंत्र्य प्राप्ति ने हमारे बंधनों को दूर कर दिया है, हम अब पुनः विकास पथ की ओर द्रुतगति से अग्रसर होने को मुक्त हैं। कोई बाह्य बाधा हमे अब अस्थिर नहीं कर

सकती। अतः अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के उपयोगी तत्व विवेचनों के साथ २ जैन तत्वानुसंधान पद्धति को भी उचित मान मिलना चाहिये।

भाव चिंतन में जैन संस्कृति की प्रगति सर्वाग्र रही है, और यहां भी उन्होंने युक्ति का आश्रय नहीं छोड़ा—यह उसकी विशेषता है। औपशमिक व क्षायिकादि साथ २ औदयिक व पारिमाणिक आदि भावों का वर्गीकरण कितना सुन्दर है यह विज्ञ ही समझ सकता है। चित्त वृत्तियां चाहे सुखान्वेषी हों या दुखान्वेषी उनमें प्रेरणा तो रहती है (इच्छा करके कोई भी दुख को ग्रहण नहीं करता किंतु परिस्थितियां दुख भी लाती हैं) इन प्रेरणाओं के सम्पर्क में आने वाले को कष्ट अथवा आराम मिलता है। विकास का क्रम यों है:—

"सांसारिक बोध उपलब्ध कर मानव पर दुख से प्राप्त होने वाले सुखको हेय मान जब उसका परित्याग करनेको उद्यत होता है तो उसके विचार व्यवहार में विशेष प्रकार की सौम्यता व प्रौढ़ता आती है और परिणामतः वह उपस्थित परिस्थितियों के कार्य कारण का अनुमान करने का प्रयत्न करता है। यही प्रारम्भ होताहै उसका अज्ञात अनंतके कक्षको भेदने का प्रयास।

"प्रेरणायें भौतिक परिस्थितियों को समझने की ओर सर्व प्रथम बढ़ती हैं, तदुपरांत वस्तुओं के निर्माण, स्थिति व ध्वंश के कारणों का अनुसंधान किया जाता है तथा समय सुयोग पाकर नव निर्माण की ओर भी अग्रसर होने का अवसर आता है। इस तरह भौतिक उन्नति की ओर जाते हुये जहां कहीं

उसकी मन तंत्री अपने स्व स्वरूप को हृदयंगम करने की ओर तत्पर होती है तो उसके व्यवहार व विचार की दिशा बदल जाती है। वह अपने आदि अन्त को सोचने समझने के लिये उत्सुक हो उठता है।

"भावी की अनिश्चितता उसको सर्व प्रथम अपने भूत को समझने के लिये उत्साहित करतीहै, जड़ात्मक पदार्थों के माध्यम से अपने आप को जानने का जब सुयोग नहीं मिलता तो व्यक्ति अपने अन्तर भावों की शोध करता है ताकि अपने यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन कर सके। भाव उसके अपने होते हैं चाहे वे स्वकीय हों अथवा पर प्रभावोत्पन्न हों, अतीत के भावों की पुंजीभूत स्मृति उसके समस्त मे परिव्याप्त रहती है। वह एक २ कर अपने उदीयमान भावों के आधार पर समस्त भाव समूहों का पर्यवेक्षण करता है। ऐसे अन्तर पर्यवेक्षण के समय उसकी इच्छायें बाह्य भोगों (प्रवृत्तियों) से कभी कुछ विरक्त हो कभी कुछ विमुख होतो कभी कुछ उद्विग्न हो, उसको अन्तर परिशुद्धि के लिये उत्साहित करती हैं। इन अवस्थाओं मे कोई औपशमिक हैं तो कोई क्षयोपशमिक तो कोई विशेष परिशुद्धि होने के कारण क्षायिक, औदयिक व पारिणामिक भाव तो सदा सामान्य रूप से प्रत्येक संसारासक्त जीव को संपूर्णतया आवृत्त कर आवागमन करते ही रहते हैं"।

उपरोक्त पाँच भावों का हम विशेष स्पष्टीकरण क्या करें, इनके बोध द्वारा जीव को अपनी अंतर परिशुद्धि में बहुत संहा-यता मिल सकती है यह निस्संदेह है। अपने अन्तर के स्वरूप

का, विचार धाराओं के प्रवाह का एवं भावनाओं के क्रम का ज्ञान प्राप्त कर जीव युक्त उपायों द्वारा वैपरीत्य का प्रक्षालन करने समर्थ हो सकता है। इस अन्तर पर्यवेक्षण से चेतन् का वास्तविक स्वरूप दर्पण के प्रतिबिंब की तरह झलकने लगता है एवं मनीशी सुख व दुख के कारणों का ठीक २ अनुमान लगा लेता है।

मेधावी यह भी जान लेता है कि परिस्थितियों का दासत्व क्यों व कैसे मन के व्यामोह द्वारा आत्मा को इतस्ततः, उद्विग्न हो भ्रमण करने को बाध्य करता है। संसार की अनिश्चितता; अस्थिरता, भावी की अज्ञानता अपने अननुकूल होने वाले पदार्थों के परिवर्तन आदि से जो विक्षेप उत्पन्न होता है वह भी उसके नियन्त्रण में आ जाता है। कौन सा भाव किस कोटि का है एवं उसके द्वारा कैसी और कितनी अशांति मन को घेर लेगी यह सहज में ही अनुमेय हो उठता है। क्रमशः मन का व परिस्थितियों का नियन्त्रण, मानव के अपने हाथ में आ जाताहै, परोक्ष की या दूर की या अज्ञात की संज्ञा लुप्त होती चली जाती है, एवं उदीयमान ज्ञानालोक समस्त द्रव्यों व भावों के शक्ति सामर्थ्य व परिवर्तन को हस्तामलकवत् स्पष्ट बोध्य कर देता है, ताकि निश्चिन्त, निःशंक निराबाध, निरुद्विग्न चित से वह चेतन की नित्यानन्द स्रोतस्विनी में निष्कन्टक शांति पीयूषका पान करता रहे।

जैन तत्वधारा ने जीव के उन्नति क्रम (Evolution theory) को आज से सहस्रों वर्ष पूर्व अपने ढङ्ग से स्वीकार कर लिया

था एवं उसकी मान्यता पाश्चात्य वैज्ञानिकों की तरह केवल मात्र शारीरिक परिस्थितियों को लेकर ही सीमित न थी, बल्कि भाव विकास को मुख्याधार मानकर तदनुरूप शरीर धारण करने के सिद्धान्त को वह निश्चित कर चुका था। सूक्ष्मातिसूक्ष्म देहधारी जीव किस तरह परिस्थितियों की चपेट खा भाव परिष्कृत्यानुसार एक इंद्रिय से पंच इन्द्रिय पूर्ण शरीर को प्राप्त करता हुआ सामान्य मन शक्ति से विशेष विचार शक्ति को उपलब्ध करता है एवं अन्त में मानव देह व उत्तम संस्कार जन्य उन्नत विकास बोध द्वारा वर्तमान से भूत का अनुमान कर भविष्य को स्थिर करने की योग्यता प्राप्त कर अज्ञानांधकार को भेद चेतन के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट करता है, यह उल्लेख अद्वितीय है जैन साहित्य में।

वैज्ञानिक परिभाषाओं से इस विवरण की युक्ति पूर्ण धारा बहुत मिलती है और आश्चर्य होता है हमें यह देखकर कि यन्त्र सुलभ सुविधाओं के अभाव में कैसे वे मनीषी इस विषय के सत्य के इतने निकट पहुँच पाये।

देह निर्माण के रहस्य को स्पष्ट करने के लिये जैनों ने ५ विभाग स्वीकृत किये, इनको पढ़कर हमें चकित होना पड़ता है कि जानकारी कितनी दूर तक फैली हुई थी। आज के विज्ञान के सन्मुख औदारिक निर्माण पद्धति भी अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुई है। जहां हमारे भारतीय सिद्धान्त में वैक्रिय, आहारक, तेजस व कार्मण पद्धतियों का विशिष्ट विवरण मिलता है। इस विषय के अधिकांश विलुप्त साहित्य में अभी भी इन

धारणाओं के प्राथमिक स्वरूप का आभास पाने लायक सामग्री है ताकि आधुनिक विज्ञान को और अधिक शोध के लिये बीज मन्त्र दिये जा सकें।

वातावरण में विद्यमान अवयवों को लेकर शरीर निर्माण करने की प्राकृतिक क्रिया तथा माता पिता के संयोग मे उनके शरीरावयवों को ग्रहण कर देह धारण करने की क्रिया जैनों से अविदित न थी, साथ २ वे यह भी मानते थे कि अनुकूल अवयवों को एकत्रित करने से देह निर्माण किया बुद्धिकौशल द्वारा भी संपादित की जा सकती है। सूक्ष्म व स्थूल या अल्प व विशेष विकास वाले प्राणियों का इस व्योम में अनगिनत संख्या में निरन्तर अव्यावाध गति से भ्रमण चालू है ,बुद्धि कौशल का प्रयोग कर अवयवों को एकत्रित करने मात्र देरी है, कोई न कोई जीव आ बसेगा। क्षुद्र कृमि से लेकर विशालकाय हस्ती तक के देह निर्माण को अवयव संयोग द्वारा सम्भव मानता है जैन सिद्धांत।

देह निर्माण के बीज मन्त्र स्वरूप पर्याप्त अपर्याप्त सूत्र द्वारा होने वाले सिद्धांत की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। विशिष्ट कोटि के सूक्ष्म अणु स्कंधों की अपेक्षा होती है प्रत्येक विशिष्ठ शरीर निर्माण के लिये। शरीर निर्माण के पूर्व उन विशिष्ट स्कंधों में एक प्रकार की हलन चलन होती है। जैन मान्यतानुसार वे स्कंध इस प्रकार की हलन चलन योग्य जीवों की प्रेरणा पाकर ही करते है। अनगिनत संख्या में इस तरह के जीव प्रेरित स्कंध कुछ समय उपरांत आपस में मिलकर उद्दिष्ट कोटि का शरीर निर्माण करते हैं। उनमें से एक जो कर्मानुसार पूर्ण होने की योग्यता रखता है वह तो देह का स्वामी बन जाता है और बाकी के सब जीव उन

स्कंधों को छोड़कर कूच कर जाते है। यही जैन सिद्धांत स्थिर करते हुये कहता है:-अपर्याप्त व पर्याप्त दोनों कोटि के जीव आते है (प्रत्येक निर्माण के समय) जिनके पास पूर्ण शक्ति संचय नहीं होती वे तो वास्तविक निर्माण के पूर्व ही चल देते हैं और जिनके पास पूर्ण शक्ति संचय होती है वे देह के स्वामी बन पूरा शरीर बना लेते हैं। यही कुछ सामान्य उलट फेर के साथ प्रत्येक (जीव के देह व जड़ के स्कन्ध निर्माण) निर्माण के लिये अमोघ बीज मंत्र है।

अपर्याप्त स्कंधो से निर्माण सफल नहीं होता, पर्याप्त शक्ति सम्पन्न अवयवों के एकीकरण की आवश्यकता है, निर्माण के लिये। सम्पूर्ण स्वस्थ शरीर के लिये जीवापेक्षित कई तरह की पर्याप्तियों की आवश्यकता मानीहै सिद्धान्त ने-आहार पर्याप्ति, भाषा इंद्रिय व मन आदि पर्याप्तियों के क्रम को इतने चतुर ढङ्ग से सजाया गया है कि साधारण बुद्धि भी सरलता से समझ सके कि किस २ देह के लिये किस २ पर्याप्ति की आवश्यकता है।

ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय से विशिष्ट द्रव्येंद्रिय व भावेन्द्रियों के विभाग व उनके फिर निर्वृत्ति व उपकरण तथा लब्धि व उपयोग आदि आदि कोठियों में पुनर्विभाजन अति सुन्दर हैं। इन सबकी व्याख्या करने बैठें तो यहां समय स्थान का सङ्कोच फिर आड़े आयेगा सामान्य परिचय कराने अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नहीं है।

पौद्गलिक आकृति निवृति इन्द्रिय, ज्ञान कराने में समर्थ पौद्गलिक शक्ति उपकरण इन्द्रिय, आत्मिक परिणाम जो मति

आदि ज्ञान के अल्पबहुत्त्व (क्षय उपशम) से उत्पन्न होता है, उसको लब्धि इन्द्रिय व इन सब की सम्मिलित सहायता से पदार्थ का बोध कराने में सहायक पारिणामिक शक्ति उपयोग इन्द्रिय है। इसी तरह मनको जैन परिभाषा में इषत् इन्द्रिय या नो इन्द्रिय कहा गया है। ज्ञान का मुख्य साधन विचार धारा का प्रेरिक मन कभी इंद्रियों की सहायता से पदार्थ का बोध करता है तो कभी स्मृत्यादि अनुमान की सहायता से। इसीलिए ऐसे अनुमान को श्रुत की संज्ञा दी गई है—अल्पांश में मति युक्त व बह्वांश में यह श्रुत है ! विस्तृत विवेचन से इस विषयक सूक्ष्म सत्त्य का आविष्करण सम्भव है एवं साहित्य में सहायक सामिग्री का भी अभाव नहीं है।

मन के द्रव्य व भाव रूप दो विभाग किये हैं जैन परिभाषा ने। द्रव्य मन वह विशिष्ट शक्ति है जो शरीर (पूर्ण पर्याप्त इन्द्रियों का) का आश्रय ले तदनुसार सङ्कल्प—विकल्प, पूर्वापर सम्बन्ध आदि विचार विमर्श सहित पदार्थों का ज्ञान व बोध कराती है। यह शक्ति यद्यपि भाव प्रदत है फिर भी विशेष कोटि के शरीर निर्माण बिना उत्पन्न नहीं होती । वह निरंतर उपयोग की अपेक्षा रखती है। सर्व श्रेष्ठ विशाल मस्तिष्क निर्माण के कारण मानव देह में ही इसको पूर्ण विकसित होने का अवसर मिलता है पांचों इंद्रियों की प्राप्ति के बिना तो इस शक्ति का आविर्भाव भी सम्भव नहीं होता।

भाव मन के दो विभाग माने गये हैं, एक तो सुख दुखादि परिणामों को अनुभव करने की शक्ति जो प्राणि मात्र में पायी

जाती है, दूसरी आत्मा के परिशुद्ध चेतनात्मक ज्ञान मय परिणामों की, जागृति अपराश्रयी, प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति जो निस्वार्थ भाव से प्रकृति के अन्तर सत्यों को स्पष्ट करती है। पारिभाषिक शब्दों में, एक को क्षायोपशमिक भाव मन तो दूसरी को आत्म-परिणति रूप भाव मन कहा गया है।

प्रायत्निक वृत्ति निरोध की अजस्र धारा के परिणाम स्वरूप आवेश, उद्विग्नता, लिप्सा, व्यामोह, कषाय अज्ञानादि के विलुप्त होने पर उदित हुई अंतर शांति के उपरांत जब वासनाओं का स्वाभाविक तिरोभाव सार्थक होता है तब कहीं आत्मपरिणति शक्ति को अंतर वाह्य में व्यक्त होने का अवसर मिलता है। पूर्व भाव मन के क्रमशः विशुद्ध होनेपर ही इस उत्तर भाव मन का आविर्भाव सिद्ध है।

विकास पथ की दो सीढ़ियो का उल्लेख भी बड़ा उपयोगी है। सर्व प्रथम अयुक्त वृतियों को रोकने के लिये सम्वर को जीवन में उतारने की आवश्यकता है तब कहीं द्वितीय सोपान निर्जरा (सकाम) जिसे कर्म रूपी आवरण का नाश करने की क्रिया कहते हैं, जीवन में घट सकती है। यों तो औदयिक भोग के कारण निर्जरा सदा सर्वदा होती रहती है, उसी तरह कर्मागमन को सूचित करने वाला आश्रव भी निरंतर जारी रहता है, परन्तु सम्वर प्रयत्न के परिणाम स्वरूप ही आता है।

वास्तव में है भी यही बात, अवांछनीय वृत्तियों को रोकना दुष्कर है शुद्ध प्रवृत्तियों को लाने का प्रयत्न करना उतना दुष्कर

नहीं। यह सत्य सामान्य बुद्धि प्रयोग द्वारा हृदयङ्गम नहीं होता पर अनुभवी व्यक्ति इस ठोस उक्ति को समझ सकते हैं।

जैन वांग्मय ने पाप व पुण्य (अशुभ व पौद्गलिक शुभ) दोनों वृत्तियों को पराश्रयी होने के कारण तात्त्विक दृष्टि से अनुपादेय माना है। तुलना द्वारा बहु पापकी अपेक्षा अल्प पाप ग्राह्य है, क्रमश; उस अल्प से दूसरे अल्प पर चलना उन्नति पथ का क्रम माना गया है। पुण्य संयोग–जन्य उत्पन्न होने वाली आपेक्षिक व आंशिक स्वार्थमयी वृत्तियों से उत्पन्न होता है, अतः उच्च परिस्थितियों में उसको भी अग्राह्य माना गया है।

पाप पुण्य दोनों को विदा देने की आवश्यकता है, क्योंकि एक पराश्रयी दुख रूप है तो दूसरा सुख रूप दोनों हीं आत्मा को पराधीन कर देते हैं। अतः शुद्ध परिणति को ही उपादेय मानने को उद्यत होना उचित और युक्ति पूर्ण सिद्धात है। यह एकांत प्रवचन नहीं है; तत्त्व विवेचन के समय तत्त्व स्थापना के समय निश्चित की हुई बात है।

पर व्यावहारिक जीवन में अशुभ, हिंसक पर–दुखदायिनी व कपट पूर्ण वृत्तियों को परित्याग करते हुए शुभ सेवा भावी, अहिंसक, परोपकार पूर्ण, अनुकम्पा प्रधान वर्तन को ग्रहण करने की नितांत आवश्यकता है। दया व औदार्य तो प्रधान चिन्ह हैं शुभ वर्तन के, इसलिए इनके निरंतराभ्यास से भावों व कार्यों में जो सौम्यत्त्व आता है वही क्रमशः अन्तर परिशुद्धि व सुबोध की प्रेरणा देता है एवं परिणामतः आत्मा शुद्ध (ज्ञान) की ओर अग्रसर होता है।

किस २ कारण से शुभ अशुभ अथवा शुद्ध भावों का आगमन होता है इसका विवेचन महावीर के प्रगाढ अन्तर प्रक्षालन का परिणाम है। एक २ भाव को हम आलोचक की दृष्टि से देखें तो हमें सर्वत्र तात्त्विक परिपूर्णता का परिचय प्राप्त होगा, कहीं कोई भी भेद मानों छूटा हुआ नजर नहीं आता।

कर्मो का बन्ध वैज्ञानिक है तो उनके उदय की गाथा भी उतनी ही युक्ति पूर्ण व सुन्दर है। सत्ता में क्यों व कैसे कर्म रहते हैं इस विवेचन से हमारी (मनुष्य मात्र की) सबसे बड़ी शङ्का का निवारण हो जाता है। मेधावान मानव के सन्मुख सदा सर्वदा यह प्रश्न चक्राकार घूमता रहता है कि एक जीव के भावों में इतनी उलझन है तो समस्त जीवों के अपार भाव समुद्र के झंझावात में क्यों कर परिणामों का निर्णय सर्वथा उपयुक्त व निर्भ्रांत हो सकता है ? – इसी का उत्तर देते हुये मानों बन्ध सत्ता व उदय की त्रयी के आधार पर तत्वधारा का श्रोत उस परम मेधावी ने वांग्मय में बहा ही तो दिया। कर्म बन्ध की त्रयी से त्राण पाये बिना स्वातन्त्र्य अथवा मुक्ति सम्भव नहीं होती। अतः इस त्रयी के पाश से छूटने के लिये प्रयत्न सुलभ उदीरणा को तत्व में स्थान देकर उन्होंने उन्नति पथ गमन को सुलभ व युक्तयानुसारी बनाया।

वासना के स्थिति व स्तर विशेष में उदीरणा के भावानुसार अनेक रूप होते हैं, इसका हमे साहित्य से अनुसन्धान प्राप्त हो सकता है। स्थिति व रस बन्ध, प्रकृति व प्रदेश बन्ध आधुनिक

विज्ञान की आत्म विषयक शोध के लिये प्रारम्भिक बीज गाथा के समान सिद्ध हो सकते हैं इस ओर विचारकों को ध्यान देना चाहिये।

विहङ्गम दृष्टि से हम तात्विक विचार कणों का उल्लेख मात्र करते हुये बढ़ रहे हैं, अवांतर विवेचनों (तद् विषयक अगाध साहित्य विद्यमान है) से भाव तत्वधारा कितनी स्पष्ट झलकती है, इसको व्यक्त करने का अवकाश नहीं है इस समय। अतः साहित्य के विलुप्त किंतु अत्यन्त विशिष्ट अङ्ग का नाम मात्र लिखकर हम हमारी इस संस्कृति कथा को पूर्ण करते हैं।

पूर्व, जैन साहित्य के व्यावहारिक दृष्टि से विशिष्ट तम अङ्ग थे। समस्त वैज्ञानिक सम्भावनाओं व कृतियों का जिनका भारतीय ऋषियों को पता था, पूर्व साहित्य में सङ्कलन व समाबेश किया गया था। वास्तव में पूर्व साहित्य प्रयोग साहित्य था, केवल जैन सिद्धान्तों का ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय विज्ञान का मानो निचोड़ उसमें एकत्रित किया गया था।

पूर्वों की विषय सूचि को देखकर हमें अचम्भित होना पड़ता है। एवं उनकी प्रशंसा में कहे गये उद्‌गारों को देखकर दुख होता है कि इतने मूल्यवान प्रयोग साहित्य को क्यों नष्ट किया गया। माना कि कालदोष अथवा अविवेक के कारण दुष्प्रयोग करता हुआ मानव विनाश पथ की ओर अग्रसर हो चला था एवं आसन्न व सुदूर भविष्य में भी ऐसी सम्भावनाओं

की आशङ्का थी, किंतु ज्ञान के इतने भव्य संग्रह को इतने से भय के लिये ही विलुप्त कर देना कितना प्रशंसनीय कार्य हुआ है यह व्यवहार के समक्ष आज के युग में अविदित नहीं है।

विज्ञान साहित्य का प्रयोगाभाव में विलुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। प्रयोग सुलभ बीज मन्त्रों को आध्यात्मिक साहित्य की तरह जीवित रखा जाता तो सभ्यता का नाश नहीं हो जाता। पूर्व मनीषियों के निर्णय की आलोचना करने नहीं बैठे हैं हम, किंतु मानव की समतुलनात्मक बुद्धि पर उस युग में इतना अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखता।

मध्य युग के भारतीय वैज्ञानिकों पर इस बात का दोष लगाये बिना हम नहीं रह सकते कि उच्च कोटि की प्रयोग सम्भव धारणाओं को किसी ने लिपि बद्ध नहीं किया। चिरकाल तक मौखिक पाठ द्वारा ही शिक्षा प्रचार होता रहा एवं व्यक्ति विशेष के साथ२ विशिष्ट विद्यायें भी नष्ट होती गयीं। हालांकि लेखन प्रणाली इस देश में अविदित न थी क्योंकि राजकीय अथवा अन्य व्यवहारिक जीवन में लेखन - कला का छूट से उपयोग होता था। किंतु हम देखते हैं कि उच्च कोटि के ज्ञान विज्ञान के पठन पाठन या प्रचार के हेतु कभी प्राग् ऐतिहासिक युग में लेखन कला का उदारता के साथ उपयोग नहीं किया गया। जब तक मनीषियों की शृङ्खला अभग्न थी इस तरह के निर्णय में हम कोई बुराई नहीं देखते, पर ज्यों २ इस शृङ्खला के टूटने की आशङ्का सत्य होने लगी उस काल के मनीषियों के लिये सर्व प्रकारेण यह उचित था कि उन विद्याओं को लिपिबद्ध कर जाते ताकि किसी उन्नत युग में

भावी संतति उन ज्ञान गवेषणाओं के सहारे आगे बढ़ने में समर्थ होती।

इन तीन शताब्दियों में पाश्चात्य विद्याओं ने जो उन्नति की है उसका प्रधान श्रेय उनकी प्रचार पद्धति को है। भारतीय ज्ञान कोष की प्रेरणा से अथवा अपने स्वतन्त्र अनुसन्धान से कभी किसी सत्य का निर्णय होजाता है तो उसे छिपा कर रखा नहीं जाता वल्कि तद्विपरीत उसको सब के समक्ष रख दिया जाता है ताकि समझने वाले समझ लें।

इस प्रचार के फल स्वरूप अनुसंधान क्रिया वहीं तक नहीं रुकती परन्तु पूर्व शोधन का आश्रय ले नया मेधावी वहां से आगे बढ़ता है (जहां तक पूर्व शोध हो चुकी होनी है) अतः उन्नति का क्रम रुकता नहीं बल्कि आगे बढ़ता है। भारतीय पद्धति ठीक इसके विपरीत चली। मध्ययुग से प्रचार की ओर न जाकर वह सङ्कुचित होती गई। प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार पुराकाल में विद्याओं का आम जनता में भी प्रचार था एवं प्रत्येक को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। किंतु मध्य युग में सङ्कीर्ण वृत्याश्रयी पंडितों की स्वार्थ परायणता के कारण सब कुछ लुटा दिया गया। अपनी प्रतिष्ठा को ही मुख्य ध्येय मान विशिष्ट विद्याओं को उन्होंने अपने तक ही रखा और ज्यों २ उनकी संख्या घटने लगी एक २ कर सब चीजें विस्मृति के भोग चढ़ गयीं। परतन्त्रता की बेड़ियों ने रही सही रुचि को और भी नष्ट कर डाला परिणामतः आज की भारतीय संतति ज्ञान विज्ञान के सभी मन्त्रों से अनभिज्ञ है।

अकर्मण्य बने रहने की अपेक्षा विद्या व बुद्धि कौशल का प्रयोग कर ज्ञान विज्ञान की शोध व उन्नति करते हुये मर जाना कहीं लाख दरजे उत्तम है – भारतवासी यह पाठ भूल गये। पर आज यह अत्यधिक अपेक्षित है कि प्राचीन गूढ़ रहस्यमयी विद्याओं के लुप्त प्राय ज्ञान साहित्य की जो कुछ रश्मियां अद्यावधि अवशिष्ट हैं उनको एकत्रित कर पुनः उनके सामुहिक विकास से अंधकार को दूरकर ज्ञानालोक द्वारा मानव का उन्नति पथ गमन सार्थक किया जाय।

यह मनीषियों से अविदित नहीं है कि केवल भौतिक धारा को कतिपय अंशों में प्रवाहित करने मे समर्थ हुये पाश्चात्यवासी आध्यात्मिक धारा के गम्भीर रहस्य को हृदयङ्गम कर उसके शांत अनुछ्वसित बहाव द्वारा मानवता को प्लावित करने की कला से अनभिज्ञ है। तभी निर्माण के स्थान पर उनकी कृतियां अधिकांश में ध्वंश की कथा ही कहती रहती हैं। भारतीयों का कर्तव्य है कि चेतन् की आध्यात्मिक महत्ता का दिग्दर्शन करावें ताकि संहार के स्थान पर सृष्टि की रचना भी की जा सके।

जैन सिद्धांत का पूर्व साहित्य अद्भुत था यह निस्सदेह है। आज जैसी २ कथायें प्रसिद्ध हैं उनसे कुछ २ आभास मिलता है कि प्रयोग किये जाने पर क्या २ और कैसे २ परिणाम सम्भव होते थे, इनमें से अनेक अत्यन्त उपयोगी व अद्भुत थे व आधुनिक विज्ञान की प्राप्तियों के साथ उनकी तुलना भी की जा सकती है। किसी अयोग्य शिष्य के असामयिक आवेश को देख समस्त भावी संतति के लिये अयोग्यता का प्रमाण पत्र लिख

देना व इतनी सी बात के लिये समस्त भविष्य को प्रकाश पुञ्ज से वञ्चित कर देना कमसे कम दूरदर्शिता की बात तो नहीं कही जा सकती। कुप्रचार से बचाने के लिये कुछ विशिष्ट कोटि की विद्याओं को गुप्त रख लेना शायद अयुक्त नहीं किंतु सारे विज्ञान साहित्य को छिपा लेने का कार्य मानवता के समक्ष अपराधों की कोटि में गिना जा चुका है।

हम पूर्व साहित्य के विषयों का उल्लेख कर इस निबंध के कलेवर को अनावश्यक दीर्घ बनाना नहीं चाहते किंतु विद्वानों से अनुरोध करते हैं कि वे पूर्व की विषय सूचि में वर्णित संभावनाओं को एकत्रित कर उनका स्पष्टीकरण करें ताकि आज के विज्ञान युग के समक्ष प्राचीन भारतीय ज्ञानकोष की तद् विषयक विशेषताऐं रखी जा सकें।

परतंत्रता की बेड़ियों के कारण हमारे विवेचनों का आज तक उचित मूल्य नहीं आँका गया और अधिकांश में हमारे ज्ञान मंत्रों की चोरी कर अपने नामों के साथ उनके आविष्कार को जोड़ पाश्चात्यों ने हमारी सभ्यता व संस्कृति की हँसी उड़ाई है। भिन्न २ विषय की पाश्चात्य पुस्तकों में सदा ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं कि अमुक विषय की सर्व प्रथम शोध करने वाला कोई अँग्रेज था तो कोई फ्रेंच अथवा तो कोई जर्मन या और कोई किंतु सभ्य कहलाने वालों को यह नहीं सूझती कि भारतीय साहित्य को समझ बूझ कर भी इस तरह का असत्य व कापट्य पूर्ण प्रवचन कैसे करें।

अधिक दुख तो हमें तब होता है जब पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय भी दूने जोर से उनकी हाँ में हाँ मिलाते है और भारतीय विद्याओं का उपहास व अवहेलना करते हैं। उन्हें अपनी अनभिज्ञता पर लज्जा नहीं आती, किंतु ढीठ की तरह अपने पूर्वजों की ज्ञान-गवेषणाओं को तुच्छ बनाने में अपनी पाश्चात्य शिक्षा का गौरव मानते हैं वे।

हमें अब इस संस्कृति की गाथा को यहीं समाप्त करना है। मुख्य विशेषताओं का जिक्र किया जा चुका है, विस्तृत विवरण बोध के लिये हम मूल ग्रंथों का अध्ययन करने की प्रार्थना करते हैं। जैन कहलाने वाले समाज से हमारा यह करबद्ध अनुरोध है कि या तो वे जागृत हो जैन-ज्ञान-विशेषताओं को मानव जगत् के सन्मुख रखें अन्यथा व्यर्थ का मोह छोड़ इस साहित्य को न तो छिपावें और न कलुषित करें।

महावीर ने जैन संघ का पुनर्गठन करते हुये भावी काल के लिये यह व्यवस्था सुझायी थी कि संघ के सम्मिलित निर्णय द्वारा ही शासन का नियंत्रण किया जाय - आज यह नियम भी प्रायः विलुप्त हो चुका है । अधिकांश में अशिक्षित या कुशिक्षित अभिमानी या सङ्कीर्ण वृत्ति वाले संप्रदायवादियों के अतिरिक्त साधु या आचार्य पद को शोभित करने के लिये जैन संघ को और कोई व्यक्ति नहीं मिलते । इनकी भीड़ में भूले भटके कहीं कोई मेधावी उपज भी जाता है तो एकाकी होने के कारण उसके परामर्श की अधिकांश में अवहेलना ही की जाती है। समय परिवर्तन के साथ २ व्यवहार को न मोड़ने के कारण

जैन संघ के दो टुकड़े तो पुराकाल में ही हो चुके थे और अब तो न जाने मेढ़कों की तरह टर २ करने वाली कितनी टोलियाँ बन चुकी हैं।

चरित्रवान, ब्रह्मचारी, मेधावान गुणी, अध्यात्मप्रेमी, तत्वदर्शक व गीतार्थ साधुओं का नितान्त अभाव है जैन संघ में। मूर्खों की टोलियाँ बरसाती घास फूस की तरह भेष धारण कर जैन सिद्धांत का उपहास करने का कर्तव्य अवश्य पूरा करती है; प्रतिष्ठा व लोभ इतना घर कर चुका है कि इनको पाने के लिये साधुओं ने चरित्र व ज्ञान दोनों की तिलांजली देदी है।

सुधर्म, शय्यंभव, भद्रबाहु, स्थूलिभद्र, स्कंदिल, कुन्दकुन्द उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, जिनभद्र, हरिभद्र, अकलङ्क विद्यानन्दी, धनपाल, हेमचन्द्र, आनन्दघन व अन्तिम सितारे यशोविजय देवचन्द प्रभृति ज्ञानयोगियों की परम्परा कहां गयी? अन्तिम यशोविजय जी ने स्पष्ट शब्दों में जैन संघ की तत्कालीन दुर्दशा का जैसा वर्णन किया है आज उससे भी सहस्र गुणा पतन हो चुका है। क्या अब भी जागृत होने की आकांक्षा पैदा नहीं होती? पतन की भी कोई हद होती है। हम विज्ञ से अनुरोध करते हैं कि इस ओर कदम बढ़ावें व इस ज्ञान भंडार की रक्षा करें।

साधु संघ की जब यह परिस्थिति है तो उपासक वर्ग की क्या दशा होगी यह सहज में ही अनुमेय है। अधिक न लिख कर हम इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि आज जैन संघ दो विपरीत धाराओं के बीच छिन्न भिन्न होता जा

रहा है। एक ओर तो रूढ़िग्रस्त मुग्धों का उपासक वर्ग जिनकी सख्या अधिक होने के कारण साधु इनपर अपना सिक्का जमा बड़े मौज सौख से नीति व चरित्रका गला घोंटता है, दूसरी ओर है पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त-युक्त धार्मिक सस्कृति से अनभिज्ञ नयी राजनीति के उच्छिष्ट अंग की तरह स्वार्थी पदलोलुपी सुधारक वर्ग जो अपनी सत्ता जमाने के लिये अनुपयुक्त वातावरण का निर्माण करने के हेतु समुदाय को अनिश्चित दिशा की ओर धकेलना चाहता है। वास्तव में अन्धविश्वास, मूर्खता, अशिक्षा, अयोग्यता क्रमशः संकीर्ण नैतिकता अतः अनीति ने जैन समाज के गृहस्थ—स्त्री पुरुष दोनों को पूर्णतया फँसा रखा है और वे कुटिलवृत्ति चतुर धूर्तों के कुचक्र मे पड़ अपने चरित्र व सभ्यता को लुटा रहे हैं।

हमारा यह सुनिश्चित परामर्श है कि साधु व उपासक दोनों वर्गों की नये सिरे से महावीर के उत्तम उपदेशों के आधार पर रचना की जाय ताकि आधुनिक विज्ञान युग के साधनों का सदुपयोग करते हुए समाज सभ्यता व अध्यात्म के ध्येय की ओर बढ़ सके।

इस संस्कृति ने सत्य का अनुसंधान, सत्य का निर्णय एवं उसका व्यावहारिक व आध्यात्मिक उपयोग व विकास करने के लिये हर परिस्थिति में युक्ति के बीज मत्र का प्रचुरता से उपयोग किया है पर किसी भी कारण वा अवस्था मे अनुपयुक्त अनुचित पद्धति का आविष्कार करके मानव को उत्थान पथ से पीछे नहीं धकेला। जहां कहीं भी किसी को असामंजस्य

दिखायी देता है वह कतिपय स्वार्थी, प्रतिष्ठा लोभी स्खलित— शक्ति आचार्यों की कृति का ही परिणाम है यह समझना चाहिये महावीर व उनके सच्चे अनुयायियों ने कभी स्खलन का पोषण नहीं किया बल्कि वे तो सदा सत्य व युक्ति की उद्‌घोषणा स्पष्ट शब्दों में अपने २ समय में करते रहे हैं।

जैन सस्कृति ने सदा अन्ध श्रद्धा पर कुठाराघात किया, असमानता के बीजों को समाज व संस्कारों से उखाड़ने का प्रयत्न किया, आत्मा व जड़ अतः आध्यात्मिक व भौतिक बिकास की पृथक २ महत्ता का दिग्दर्शन कराया, आंतरिक भावों का सुस्पष्ट वर्गीकरण किया व उर्ध्व या अधः लेजाने वाली भावनाओं के क्रम को शब्दों में अभिव्यक्त करने में सफलता पायी, विज्ञान के भिन्न २ पथों का अनुशरण करने की पद्धति बतायी व तद् हेतु विषय निर्णय किया, जीव जड़ के सम्बन्ध व आपस में एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों से होने वाले वैचित्र्यका वर्णन किया, जगत् के व्यवहार को निभाने के लिये आवश्यक मूल शक्तियों की विशेषताओं को समझाया, व्यवहार की मूलाधार द्वितीय शक्ति जड़ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागों का नामोल्लेख कर उनकी कार्य पद्धति को स्पष्ट किया, पदार्थों के कार्य व कारण की सम्बन्ध धारा का स्वरूप बताया, भिन्न २ बौद्धिक प्रयोगों द्वारा सम्भव हो सकने वाले परिणामों की विधि का उल्लेख किया, जड़ की सांयोगिक, संश्लेषण व विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा दृश्यमान पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम बताया, ज्ञान व उसके उपयोगको मानवका चरम प्राप्य व ध्येय माना,

आत्मा के स्वातंत्र्य में उसके गुण व स्वभाव की अभिव्यक्ति मानी, अकर्मण्यता व दुष्कर्मण्यता को पाप तथा शुद्ध क्रिया शीलता व अनपेक्ष आत्मज्ञान विकास को धर्म मानकर सत्यपथ को निःशंक किया, व्यवहार व निश्चय को यथारूप में आवश्यकतानुसार महत्व देकर विधि निषेधका क्रम समझाया- यह जैन संस्कृति की सिद्धांत व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की हुई व उत्पन्न हो सकने वाली कुछ सामान्य विशेषताओं का विवरण है। किसी भी परिस्थिति का (जिसमें वस्तु जड़ जीव की सभी अवस्थाएं सम्मिलित हैं) निर्माण होने के पूर्व जैन संस्कृति द्वारा मान्य पंच समवाय कारण की धारणा भी अत्यंत उपयोगी व विचारणीय है।

मानव सबसे महान् है। शारिरिक गठन व मस्तिष्क विकास दोनों ही मानव में संपूर्ण होते हैं। उहापोह करने की रुचि के कारण वह अतीत से वर्तमान का सूत्र एकत्रित-कर लेता है एवं भविष्य को तदनुसार गढ़ कर निष्कंटक बना लेता है। स्वार्थाभाव, निष्कपटता, अहिंसा, नैष्काम्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अनहंकारत्व, अलिप्तता आदि नकरात्मक प्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले समभाव को धारण कर मानव क्रमशः औदार्य, सरलता, सत्यता, क्षमा, साधुता, प्रेम, करुणा ज्ञान, ध्यान, प्रभृति स्वातन्त्र्य व अनंतशक्तिदायिनी महामेधाविनी प्रशम भावनाओं की बाह्य अभिव्यक्ति के सहारे अपने चरम स्वरूप तक पहुँच जाता है। अतः उसकी पहुँच को अतिक्रम करने की शक्ति अन्य किसी शरीर धारी में नहीं होती।

प्रकृति (षड् द्रव्यों की सामुहिक क्रियात्मक शक्ति) के अंतराल में रहे हुये निगूढ़ तत्वों का रहस्योद्‌घाटन कर मानव कभी अपने भौतिक सुख को सहस्र गुणा विस्तारित करने में समर्थ हो जाता है तो कभी अन्तर मुखी ज्ञानमयी भाव

शक्तियों की, पारतंत्र्य से बिमुक्त, पुंजीभूत आलोकराशि से दिग्दिगंत को प्रकाशमान करता हुआ सब कुछ का ज्ञाता व द्रष्टा बन जाता है ।

संसार में कोई पूजनीय है, श्रद्धेय है, आधारभूत है, मार्गदर्शक है, उत्तम अथवा श्रेष्ठ है तो यह मानव है । वह स्वयं सब कुछ है पूर्ण है किसी का प्रतिनिधि नहीं । अपने आप को पूर्णतया पा ले तो और कुछ प्राप्य नहीं रह जाता, उसके अपने पूर्ण विकसित रूप से बढ़कर कोई ध्येय नहीं । वहीं किसी का राम है किसी का महावीर तो किसी का बुद्ध ।

एक मात्र युक्ति व तुलनात्माक अनुसंधान द्वारा एक के बाद एक शक्ति की प्राप्ति, वासनाओं की मुक्ति व आत्म गुणों की क्रमशः अभिव्यक्ति सिद्ध होती है, – यह है जैन सिद्धांत की चिर स्थिर धारणा । प्रत्येक के लिये एक ही नियम है एक ही मार्ग है एक ही स्थिति में से होकर चलना पड़ता है सब को, किसी के लिये कभी कोई नियमोल्लंघन नहीं होता – क्योंकि निरपेक्ष सदा एक स्वरूप ही है । अत्युच्च विस्तृत पर्वत शिखर की तरह सत्य के जिस स्थान पर व्यक्ति पहुँचता है वहाँ के दृष्टि कोण से सभी को पदार्थ का स्वरूप तद्रूप में ही भासमान होता है; जो जितना ऊँचा चढ़ता है दृश्य विस्तृत होता चला जाता है – इस में कभी कोई व्यवधान नहीं होता ।

अतः जैन संस्कृति ने मानव को सदा यही कहा है कि "तुम अनंत विचार शक्ति सम्पन्न हो, तुम्हारे पहुँच की कोई सीमा नहीं, कोई बाधा तुम्हारी भावशक्ति को क्षुण्ण नहीं कर सकती, अतः तुम अपना परिचय प्राप्त करके विचार विकास के पथ पर चलते चलो, किसी और का भरोसा मत करो, तुम स्वयं त्राता हो अन्य कोई दूसरा तुम्हारी प्रगति में सहायता या बाधा नहीं दे सकता अतः बढ़े जाओ रुको मत । पाशविक

विपय भोग व मात्र इन्द्रिय सुख की अभिव्यक्ति ही तुम्हारी शत्रु है। अन्तर परिशुद्ध भावों के समक्ष इन्द्रिय निर्भर भावों की कोई तुलना नहीं, पूर्व को उपादेय मान उत्तर को हेय रख उससे बचते रहो। स्वानुभव तुम्हारे लिये दोनों के विभेद को स्पष्ट करता जायगा। उचित अनुचित का वर्गीकरण कर उचित का ग्रहण अनुचित का त्याग करते जाओ। इस प्रकार विकास में कहीं कोई रोक नहीं आयगी। तुम्हारी सत्यता और निर्मलता तुम्हारे योग्य पथ को सदा आलोकित करती रहेंगी। कभी अपने आत्मा के साथ धोखा न करना। क्रमशः तुम स्वयं अपने नियंता हो जाओगे व तुम्हारा ज्ञानानुभव विघ्न बाधाओं का अतिक्रम करते हुए सत्पथ पर तुमको बढ़ाता चला जायगा। तुम क्रमशः समस्त पदार्थों के परिणामिक भावों का सत्यानुमान कर सकोगे व तुम्हारे लिये यह जगत् छाया चित्र के समान अठखेलियां करता हुआ दिखायी देगा। तुम सब से परे हो जाओगे व ज्ञेय का परावर्तमान वैचित्र्य तुम्हारे लिये ज्ञानात्मक स्फूर्तियाँ प्रदान करता रहेगा। सर्व शक्तिमान काल तुमसे यहीं हार मानेगा व तुमसे मानों संबंध विच्छेद कर लेगा यहीं मिलेगा तुम्हें तुम्हारा चरम स्वरूप जहाँ तुम चेतन हो और रहोगे। तुम्हारी अभिव्यक्ति पर द्वारा नहीं किन्तु स्व स्वरूप द्वारा होगी। जहाँ इन्द्रियों का पारतन्त्र्य न होगा — होगी प्रत्यक्ष ज्ञानानुभव की स्पष्टता व सत्यता। तब नैपथ्य से आवरित प्रेरणाएं नहीं मिलेंगी अपने स्व स्वभाव की पारदर्शी स्पंदनाएं तुम्हें स्पष्ट सत्य से दूर की अस्पष्ट वासनाओं में न फँसायेंगी। तुम स्वयं निर्माण व ध्वंश के कारणों से भिन्न होकर इच्छा—नुसार निःस्वार्थ प्रवृत्ति कर सकोगे। सदा मन के धैर्य को बनाये रक्खो, निरथक प्रवृत्ति न करो, यथाशक्य अपनी योग्यतानुसार प्राणिमात्र की हिंसा से बचो व प्रशम संवेग

निर्वेद अनुकम्पा व यथार्थ युक्तियुक्त तत्व में आस्तिक्य रक्खो। वस्तु के स्वभाव को धर्म मानों, पर भाव को नहीं। इसी राह पर चलने से तुम्हारा कल्याण होगा व तुम परतंत्रता से मुक्त हो सकोगे–यही तुम्हारी साधना है और यही ध्येय।" मानव के लिये जैन संस्कृति की यह अन्यतम सारभूत शिक्षा है। जैन सस्कृति अकर्मण्यता की कट्टर विरोधिनी है। जैसी जिसकी शक्ति व भावना हो वह पदार्थों अथवा आत्मप्रेरणाओं की गवेशणा करने तत्पर हो जाय — पहले पदार्थों को उन्नत करे व बाद में अपने आपको।

जैन संस्कृति की उस अन्यतम शिक्षा में कहीं कोई असामंजस्य नहीं आयुकता नहीं अन्धविश्वास नहीं।

हमें विश्वास है कि इस निबंध स्वरूप प्रवचन के सार को समझ उपरोक्त संस्कृति के अन्यतम गुणों को प्रगट करने के लिये महानुभाव गण अग्रसर होंगे व मानव कल्याण पथ को निष्कंटक व शङ्का रहित कर सकेंगे। नामधारी या वेषधारी जैनों से हमारा प्रयोजन नहीं शायद ये बातें उनको रुचिकर न लगें पर भाव जैन जिनको भेष व नाम से सरोकार नहीं होता एवं जो युक्तियुक्त सत्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते उनके हृदय में ये दो शब्द अनुकूल स्पंदन पैदा कर सकें आवश्यक प्रेरणा दे सकें तो हमारे उद्देश्य की शतांश सिद्धि हो जायगी।

इस संस्कृति के अन्तर्गत आलेखित व इस पद्धति द्वारा प्राप्त हो सकने वाली दान धारा से अपने मानव मन्दिर को प्लावित कर समस्त अपवित्र वृत्तियों से अपने मानव परित्राण पा सके एवं अपने अनुभव व ज्ञान को उत्तरोत्तर शुद्ध व व्याप्त कर सके यही हमारी अनन्य कामना है।

——सम्पूर्ण——